महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमां क 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya (A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997) नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी के विविध गद्य-रूप

निर्धारित पाठ्यपुस्तक



एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम चतुर्थ सेमेस्टर द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य) पाठ्यचर्या कोड: MAHD - 20

दूर शिक्षा निदेशालय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय पोस्ट - हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र) हिन्दी के विविध गद्य-रूप (निर्धारित पाठ्यपुस्तक)

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड: 442001

[©] महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

प्रथम संस्करण: जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना, संयोजन एवं पाठचयन आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षानिदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग

(विष्णु प्रभाकर, राहुल सांकृत्यायन, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी एवं सत्यनारायण की कृतियाँ)

सुश्री राधा सुरेशठाकरे दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा से साभार प्राप्त

हम उन समस्त साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनकी कृतियों का उपयोग प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में किया गया है। हम उन समस्त रचनाकारों, अनुवादकों, सम्पादकों, संकलनकर्त्ताओं, सर्वाधिकारधारकों, प्रकाशकों, मुद्रकों एवं इंटरनेट स्रोतों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनकी सहायता से प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में संकलित रचनाओं के पाठ उपलब्ध हुए हैं।

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यपुस्तक दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित
 एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमित लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः
 प्रस्तुत करने की अनुमित नहीं है।
- > इस पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए सम्पादक, प्रकाशक एवं मुक्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- 🗲 किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विधा	निर्धारित पाठ्य कृतियाँ	कृतिकार	पृष्ठ क्रमांक
01.	निबन्ध	आचरण की सभ्यता	सरदार पूर्णसिंह	05 – 10
02.	निबन्ध	उत्साह	रामचन्द्र शुक्ल	11 – 16
03.	निबन्ध	अशोक के फूल	हजारीप्रसाद द्विवेदी	17 – 22
04.	निबन्ध	भाषा बहता नीर	कुबेरनाथ राय	23 – 27
05.	निबन्ध	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	विद्यानिवास मिश्र	28 – 32
06.	आत्मकथा	क्या भूलूँ क्या याद करूँ (चयनित अंश)	हरिवंशराय बच्चन	33 – 40
07.	जीवनी	आवारा मसीहा (चयनित अंश)	विष्णु प्रभाकर	41 – 85
08.	यात्रा-वृत्तान्त	किन्नर देश की ओर	राहुल सांकृत्यायन	86 – 97
09.	संस्मरण	पथ के साथी : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	महादेवी वर्मा	98 – 106
10.	रेखाचित्र	रज़िया	रामवृक्ष बेनीपुरी	107 – 113
11.	डायरी	मोहनराकेश की डायरी (चयनित अंश)	मोहन राकेश	114 – 123
12.	रिपोर्ताज	बूढ़ी बामणी	सत्यनारायण	124 – 127
13.	साक्षात्कार	एक अपना ही अजनबी	मनोहर श्याम जोशी	128 – 135
14.	पत्र	भिक्षुके पत्र ' (चयनित अंश)	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	136 – 157
15.	गद्यकाव्य	साहित्य-देवता	माखनलाल चतुर्वेदी	158 – 164
16.	व्यंग्य	इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर	हरिशंकर परसाई	165 – 175

आचरण की सभ्यता

- सरदार पूर्णिसंह

विद्या, कला, किवता, साहित्य, धन और राजस्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है; वक्ता चुप हो जाता है; लेखक की लेखनी थम जाती है; मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छिव का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान, – विशाल आत्मा के आचरण से मौन रूपिणी सुगन्धि सदा प्रसारित हुआ करती है; इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाते हैं। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के काले बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद् ऋतु क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगन्धमय अटल वसन्त ऋतु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को – मन के लक्ष्य को – ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मन्द-मन्द हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात् श्रीकेशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ

ठाकुर ने सारी रात एक क्षण की तरह गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरिगस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण – प्रभाव, शील, अचल-स्थित संयुक्त आचरण – न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न अंजील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में धँसे हुए पुरुष पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से सुनार के छोटे हथौड़े की मन्द-मन्द चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है; परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनन्त काल लगा है। पृथ्वीं बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुस्खों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यिद घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी है, परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके – न समझा सके – न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। यह केवल आचरण के कान में गुरु-मन्त्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय, तो हिल जाय, परन्तु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पंखुड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय, जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शान्त हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ – परन्तु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान – चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो – बनारस में पण्डितों के लिए रामरोला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पण्डितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें व्याख्यानों के द्वारा, उपदेशों के द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं

पड़ता – प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो, हर गिरजे, हर मन्दिर और हर मस्जिद में होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादरी स्वयं ईसा होता है – मन्दिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है – मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए – चाहे वह कन्या जिस जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो – अपने आपको गंगा में फेंक दे – चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहें चाहे जायँ – तो इस कार्य में प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, दया का आचरण – क्या पशु क्या मनुष्य – जगत् के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य ही सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसमें आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नित और अवनित इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पिवत्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पिवत्र पिवत्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिम्ब होता है। जिनको हम पिवत्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं। जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पिवत्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्म अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकल ज्योति और स्वच्छ वायु से पिर्पूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रिहत को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रिहत को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपवेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक यह जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनाता है, हम में कहाँ ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों का कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्र, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करें। कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान हैं, उन सबका क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्बन्ध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संघटनकर्ता धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सब को एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनायी हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक मुझे यदि ईश्वर का ज्ञान नहीं तो नहीं होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नहीं होता तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो – बरफ हो – बिजली की कड़क हो – समुद्र का तूफान हो – वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरणों का यह अंश मेरे तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मन्दिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न ही रोजा रखता हूँ, न संध्या ही करता हूँ और न कोई देव-पूजा ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। तो इससे प्रयोजन ही क्या और इससे हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की संगित में गुजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ यदि कोई मुझे धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न से भरा है, बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफ़ी है, कमर के लिए लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान् हैं, शरीर मेरा अरोग्य है, भूख खूब लगती है, बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और बच्चों को खाने के लिए मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदाय लम्बी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया – जब आलस्य और विषय-विकार की लम्पटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दण्ड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तिकयों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा सका। ऐंलोसेक्सन जाित ने जो उच्च पद प्राप्त किया बस उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से सम्बन्ध रखने वाले जीवन से ही प्राप्त किया। जाित की उन्नित लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं, केवल धर्म ही जाित की उन्नित करता है। यह ठीक है, परन्तु यह धर्मांकुर जो जाित को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने पापमय जीवन की गन्दी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मिन्दरों और गिरजों की मन्द-मन्द टिमटिमाती हुई मोमबित्तयों की रोशनी से यूरप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन जिसको देश-देशान्तरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शान्ति नहीं मिलती; जिसकी अन्तर्ज्वाला दूसरी जाितयों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मन्द नहीं पड़ती – केवल वहीं विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिनहुड की प्रशंसा में जो किव अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चािहए, क्योंकि राबिनहुड जैसे भौितक पदार्थों से ही नेलसन और वेिलंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड़िडयाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान – गोला, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि – को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसमें वह प्रकाश और वायु सदा खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत-से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथलगेगा। आचरण का रेडियम – क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या जगत् का – सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकाला है: सो भी कितना? ज़रा सा! संसार की ख़ाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे-बिठाए भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते – तो उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहं कार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगित की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की सन्तान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परन्तु ऋषियों की अपनी उन्नित के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पृष्पश्यया पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरप में, सभी असभ्य थे, परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरण वाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में ही बैठकर धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण सभ्यता की प्राप्ति सम्भव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है तब तक ज्ञानवान के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं – तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न ही कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नहीं, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखण्ड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्विन सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए भेजा है कि सरस्वती में चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।



उत्साह

- रामचन्द्र शुक्ल

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग से अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्ति होने के आनन्द का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमां सकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। पर केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्द-पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप, बिना हाथ-पैर हिलाए, घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इसी कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर, बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की सम्भावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है, उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उसके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवाह न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद्ध लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उनकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उनकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवाह नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस – भाव की दृष्टि से – कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की – चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो – उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आन्दोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गम्भीर पुरुष पाए जाते हैं, उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लम्बे-चौड़े दास्तान हर दम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा पहुँचाने की ही सम्भावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को पर-पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह उत्साह ही कहा जाता है। सब कार्यों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा-बहुत आराम-विश्राम, सुबीते आदि का त्याग सबको करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे। उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती है। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ पैर चलवाती है, उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर – यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं, शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टान्त कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पण्डित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है, उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जाएगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफ़ी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है। कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर ? हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्मशृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलतारूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य को आलम्बन कहा गया है। उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थिर रहता है, वह कर्मस्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजयविधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दानवीर और धर्मवीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः

उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह है कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं – समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है –

- 1. कर्म-भावना से उत्पन्न,
- 2. फल-भावना से उत्पन्न और
- 3. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्मप्रवर्तक आनन्द की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित रहता है। उद्योग के प्रभाव के बीच जब-जब फल की भावना मन्द पड़ती है, उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है तब-तब आनन्द की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्मशृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए कि अमुक

चतुर्थ सेमेस्टर द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य) हिन्दी के विविध गद्य-रूप निर्धारित पाठ्यपुस्तक MAHD - 20 Page 14 of 175

स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गित में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचनेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्तता के साथ स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी; तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसित से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है; चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय । श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासित की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदास हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार से लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे । आसित प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है । कर्म सामने उपस्थित रहता है । इससे आसित्त उसी में चाहिए । फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफ़ी है । जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है ।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जो जीवन बीता वह संतोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार, उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषधि ला-लाकर रोगी को देता

जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है – प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है – यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्म-ग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवनभर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुखप्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह में नहीं, अन्य मनोविकारों में बराबर पायी जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थित व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुंझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दिलयों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।



अशोक के फूल

- हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गए है। इन छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हत्भाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत खूदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी खू तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में, और इसलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहाँ था ! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला, वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिं जनकारी नूप्रवाले चरणों के मृद् आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कन्धों पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका ? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी ? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी ? कविता क्या सो गई थी ? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।

लेकिन मेरे मानने-न मानने से होता क्या है ? ईसवी सन् के आरम्भ के आस-पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत मिहमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पण्डितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपित थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आए थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार माननेवाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नएनए अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्ध धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैवमार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है वह ! असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गन्धर्व आए – न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आयीं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पश्च, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है ? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है ? न जाने किस बुरे मुहूर्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और 'वामन-पुराण' (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का फूल बन गया! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कोटि देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रम की बनी निम्न्तर कोटि बेला बन गई, स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया! स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा है। इस कथा का रहस्य क्या है? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं! सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता – कुबेर, सोम, अप्सराएँ – यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में आप देवता के रूप में ही

चतुर्थ सेमेस्टर द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य) हिन्दी के विविध गद्य-रूप निर्धारित पाठ्यपुस्तक MAHD - 20 Page 18 of 175

मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताए गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं! यक्ष और यिक्षणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दिखों के चरण-ताइन से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्म-ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्रशुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। 'अशोक-कल्प' में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं – सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है ? मेरा मन प्राचीन काल के कुझटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

वह मुझे प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है ! आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, वे कुछ ज़्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि संघर्षकारी शक्तियाँ बाद में देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने कभी नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का देश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पण्डित 'पुनालुअन सोसाइटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम ! परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व स्थित में भी नहीं थे और राक्ष सों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्यवाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का सन्धान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्तीकाल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्वसेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जाएँ ? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थी, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा । असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इन सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बिल्क उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालिवकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राजधरानों में साधारणतः रानी ही अपने सन्पुर चरणों के आधात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ – नीचे हल्की रुनझूत और ऊपर लाल फूलों का उल्लास। किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-सम्भार से पहले कर्न्यदेवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पित के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अंजिल बिखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर पूछता कौन है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के संसार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से जो समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गए, समाज ढह गए, और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा – पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!

मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सबकुछ में मिलावट है, सबकुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा) वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है, पर इस दुर्दम धारा में सबकुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ

बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदनदेवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचायी है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जाएगा, कौन जानता है! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जाएगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान् समझ रहा हूँ और जिनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जीएँगी और कितनी बह जाएँगी; कौन जानता है! मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ, माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास जैसे कल्पकिव ने अशोक के पुष्प को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था – अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दियता (प्रिया) के कानों में झूर रहा हो – 'किसलय प्रसवोऽपि विलासिनां मदिवता दिषता श्रवणार्पितः!' परन्तु शाखाओं में लिम्बत, वायु लुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज करुण-उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटों-सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्ध समझा था, वह लुप्त हो गया; मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई, क्या यह मध्ययुग के कंकाल में लिखा हुआ व्यावसायिक-युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी । उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जाएगी। सब बदलेगा। सब विकृत होगा – सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया ! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्यप्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्म-मार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गए, शैव बह गए, शाक्त बह गए। उन दिनों 'श्री सुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी! मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवनी शक्ति का दुर्दम अभियान था? कौन बताएगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणित की परम्परा ढोए जा रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है।

मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता – मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता – विज्ञान का सावेग धावन चल निकलता, तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है ? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है – जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है, तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ! अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है! कालिदास इसका रस ले सके थे – अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ, अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।



क्या भूलूँ क्या याद करूँ

- हरिवंशराय बच्चन

In every little experience of ours is folded the whole of history. - Swami Rama Tirtha

(हमारे छोटे-से-छोटे अनुभव में मानवता का सारा इतिहास छिपा रहता है।) - स्वामी रामतीर्थ

कहते हैं, आज से लगभग पाँच-छह सौ बरस पहले की बात है, उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले के अमोढ़ा नामक ग्राम में पाण्डेय उपजाित का एक बड़ा ही तपोिनष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण रहता था। उसे एक कन्या थी जो अत्यन्त रूपवती थी, और जिसके सौन्दर्य की ख्याित दूर्-दूर तक फैली हुई थी। उन्हीं दिनों अमोढ़ा से कुछ मील के फ़ासले पर डोमिन दुर्ग नामक एक स्थान था जिसका राजा उग्रसेन, जाित का डोम था। बस्ती ज़िले में अब भी एक स्थान डोमीिनयम बुर्ज कहलाता है। हो सकता है, इस नाम में डोमिन दुर्ग की ही कोई यादगार अटकी रह गई हो। डोम राजा ने जब ब्राह्मण-कन्या के अनिंद्य रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनी तब उसने ब्राह्मण के पास यह सन्देश भेजा कि वह अपनी बेटी का ब्याह उसके साथ कर दे। ब्राह्मण के सामने बड़ा भारी धर्म-संकट उपस्थित हो गया। 'आपत काल परखिए चारी: धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।' उसने परिणाम की कुछ भी परवाह किए बिना डोम राजा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस पर डोम राजा ने दल-बल के साथ अमोढ़ा पर चढ़ाई कर दी और ब्राह्मण के पूरे परिवार को पकड़कर बंदीगृह में डाल दिया।

बंदीगृह में ब्राह्मण कन्या को एक तरकीब सूझी। उसने डोम राजा से कहला भेजा कि मैं अपने माता-पिता को कष्ट-मुक्त देखने के लिए तुम्हारे साथ विवाह करने को तैयार हूँ मगर विवाह से पूर्व मैं अयोध्या की तीर्थ-यात्रा कर आने की आज्ञा चाहूँगी, मेरे माता-पिता को मेरे लौटने तक बन्धक के रूप में बंदी रक्खा जा सकता है। डोम राजा इस पर सहमत हो गया और कन्या तीर्थ-यात्रा के लिए छोड़ दी गई।

उन दिनों अयोध्या अवध प्रान्त की राजधानी थी, जिसके सूबेदार राय जगतिसंह थे। जगतिसंह श्रीवास्तव कायस्थ थे। बड़े ही धर्मात्मा, नीति-कुशल, न्याय-परायण और पराक्रमी। अयोध्या पहुँचकर ब्राह्मण-कन्या राय साहब के समक्ष उपस्थित हुई, और उसने उन्हें अपनी और अपने परिवार की विपदा सुनायी। अपने पूर्वजों के मूल स्थान की देवी स्वरूपा उस कुमारी कन्या का परित्राण करने की राय साहब ने प्रतिज्ञा की – बस्ती का पुराना नाम, कहते हैं, श्रावस्ती था जिसे पुराणों के अनुसार राजा श्राव ने बसाया था, और मूलतः वहीं से आने के कारण वहाँ के कायस्थ श्रीवास्तव कहलाए। राय साहब ने एक बड़ी सेना सजाकर डोमिन दुर्ग पर चढ़ाई कर दी, डोम राजा के पूरे परिवार का सफ़ाया कर दिया, और ब्राह्मण को कारागार से मुक्त करके उसकी तपःपूत कन्या उसे सौंप दी।

राय साहब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए उस निर्धन और असहाय ब्राह्मण के पास कुछ भी नहीं था। उसने अचानक यज्ञोपवीत की ओर देखा और उसे उतारकर राय साहब के कन्धे पर डाल दिया, बोला "इसके

चतुर्थ सेमेस्टर द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य) हिन्दी के विविध गद्य-रूप निर्धारित पाठ्यपुस्तक MAHD - 20 Page 33 of 175

द्वारा मैं अपना 'पाण्डेय' आस्पद आपको प्रदान करता हूँ, और आपको ब्राह्मण बनाकर अपनी ब्राह्मण-कन्या आपको समर्पित करता हूँ। ब्राह्मण ने इसी अवसर पर राय साहब से यह वचन लिया कि उनके वंश में कोई मदिरापान नहीं करेगा और यदि करेगा तो कोढ़ी हो जाएगा। जगतिसंह के वंशज 'अमोढ़ा के पाण्डे' के नाम से प्रसिद्ध हुए और दो-तीन शताब्दियों तक अमोढ़ा के ही निवासी रहे। अमोढ़ा किसी समय छोटा-मोटा ग्राम न होकर पूरा जनपद था जिसमें सैकड़ों ग्राम थे।

किसी कारण, किसी समय – शायद आज से भी दो सौ साल पहले – अमोढ़ा के पाण्डे लोगों के बहुत-से परिवार अपना मूल स्थान छोड़कर अवध के विभिन्न नगरों-गाँवों में जा बसे। डाँ॰ राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि उनका परिवार भी मूलतः अमोढ़ा का था, और जीविका की तलाश में जीरादेई-बिहार जा पहुँचा था – एक बार बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझसे कहा था कि वे अपने पूर्वजों की भूमि अमोढ़ा की यात्रा भी कर आए थे। शायद अन्य परिवार भी इसी कारण निकले हों, पर सहसा अमोढ़ा से जीविका के साधन विलुप्त कैसे हो गए, इसका किसी को पता नहीं। हो सकता है कोई भारी अकाल पड़ा हो, क्योंकि अकाल के समय जनता प्रायः एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान के लिए चल पड़ती है। सम्भव है किसी राजा या सामन्त ने अमोढ़ा पर आक्रमण किया हो। निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

बस्ती, हरदोई, लखनऊ, गोंडा, बहराइच, सीतापुर, सुल्तानपुर, फ़ैजाबाद, परताबगढ़ और इलाहाबाद में श्रीवास्तव कायस्थों के बहुत-से परिवार ऐसे हैं जो अपने को 'अमोढ़ा के पाण्डे' कहते हैं, या अपना अल्ल 'पाण्डे अमोढ़ा' बतलाते हैं। 'अल्ल' शब्द की व्युत्पत्ति मुझे नहीं मालूम, सम्भवतः देशज शब्द है, अर्थ है इसका कुल या वंश। अमोढ़ा के पाण्डे लोगों की विशेषता दो बातों में है – पहली यह कि विवाह के समय ब्राह्मण लोग उनका यज्ञोपवीत संस्कार करते हैं – जबिक शूद्र समझने के कारण, कायस्थों की अन्य शाखाओं का उपनयन संस्कार वे नहीं करते, या कुछ समय पहले तक नहीं करते थे, अब तो दक्षिणालोभ में, उदारता के कारण नहीं, उन्होंने अपने बहुत-से समय-रूढ़ सिद्धान्तों के साथ समझौता कर लिया है; दूसरी, वे मदिरा नहीं छूते – उनके यहाँ यह किंवदन्ती है कि उनके वंश का जो कोई मदिरा पिएगा वह कोढ़ी हो जाएगा, जबिक अन्य कायस्थ-शाखाएँ अनियन्त्रित मदिरापान के लिए मशहूर हैं, या थीं – 'कायथ होय प्रधान अहोनिसि रहै पियन्ती' (पृथ्वीराज रासो); कभी सोचता हूँ, स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान के रूप में डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद का पदस्थ होना चन्द बरदाई की उक्ति पर कितना बड़ा व्यंग्य होगा।

विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने की प्रथा में निश्चय ही उस घटना की स्मृति जगायी जाती है जो जगतिसंह के साथ घटी थी, और जिसके द्वारा उन्हें 'पाण्डेय' का आस्पद और ब्राह्मण-कन्या पत्नी के रूप में प्राप्त हुई थी। किन्हीं पुराणों के अनुसार, मैंने ऐसा सुना है, कायस्थों के आदि पुरुष, यमराज के मन्त्री और लेखाकार धर्मराज चित्रगुप्त का विवाह भी ब्रह्मा की कन्या के साथ हुआ था जिससे उन्हें बारह पुत्र-रत्न प्राप्त हुए – श्रीवास्तव, माथुर, निगम, सक्सेना आदि, जो कायस्थों की बारह उपजातियों के मूल पुरुष हुए।

हिन्दुओं की काव्य-प्रियता ने, अथवा प्रतीकों द्वारा तथ्यों को व्यक्त करने की उनकी प्रवृत्ति ने जहाँ इतिहासों पर दन्तकथाओं का मुलम्मा चढ़ाया, वहाँ दन्त-कथाओं को इतिहास समझने की भूल को भी प्रश्रय दिया। िकन ऐतिहासिक तथ्यों को सामने रखकर और िकन उद्देश्यों से हिन्दू-मनीषा ने चित्रगुप्त की यह कथा गढ़ी होगी, इसे बता सकना कठिन है। मेरी एक कल्पना है; िकसी भी व्यापक, विकसित और संगठित व्यवस्था में बहुत-से तथ्यों का हिसाब-िकताब रखने की आवश्यकता पड़ती है; िकसी समय यह कार्य कायस्थ लोग करते होंगे; उनकी अपनी लिपि भी होगी, शायद एक लिपि कथी के नाम से प्रसिद्ध भी है। सम्भवतः उनका वही स्थान होगा जो आज की राज्य व्यवस्था में क्लर्क का है – िजसे अभिनव शब्दावली में 'लिपिक' कहा गया है। इस प्रत्याशा से कि वह तथ्यों के अंकन में पूरी ईमानदारी बरते, िकसी प्रकार की गड़बड़ी न करे, उसका सम्बन्ध धर्मराज से जोड़ा गया होगा जो प्रत्येक मनुष्य के पाप-पुण्य का ठीक-ठीक लेखा-जोखा रखते हैं। सब वर्णों के प्रति निष्पक्ष और सबके प्रति निरपेक्ष, एकमात्र व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् रखने के लिए उसे किसी वर्ण में स्थान न दिया गया होगा – वह ब्राह्मण नहीं है, वह क्षत्रिय नहीं है, वह वैश्य नहीं है, वह शृद्ध भी नहीं है – गो ब्राह्मण उसे शृद्धवत् मानते रहे हैं। वह ब्राह्मण के समान ब्रह्मा के मुख से नहीं निकला, न क्षत्रिय के समान बाहु से, न वैश्य के समान उदर से और न शृद्ध के समान चरण से; वह कायस्थ था, पूरी काया में था; और पूरी काया से काया के रूप में निकलने का तो एक ही स्वाभाविक-सप्राण स्थान था। हिन्दू-मनीषा, प्रायः अपने खुले स्वभाव के लिए विख्यात, उसे कहने में क्यों संकोच कर गई? – मैं नहीं समझ पाता।

किसी भी शासन के दो प्रमुख अंग होते हैं – सुरक्षा और विधि व्यवस्था। यदि कायस्थों ने हिन्दू शासन की विधि-व्यवस्था सँभाली होगी – सुरक्षा क्षत्रिय सँभालते होंगे – तो उन्होंने मुस्लिम शासन में भी यह कार्य किया होगा, क्योंकि बदले हुए शासन में भी विधि-व्यवस्था तो रखनी ही पड़ती है, उसका रूप थोड़ा-बहुत भले ही परिवर्तित हो जाए; और इसके लिए कार्य से पूर्व-परिचित और पूर्व-अभ्यस्त हाथों की ज़रूरत होती है। शासक के निकट रहने के कारण, और निकट रहने के लिए भी, कायस्थों ने अपने को बहुत बदला होगा – शिक्षा-दीक्षा में, रस्म-रिवाज़ में, और रहन-सहन के तौर-तरीकों में। मैंने अपने लड़कपन में कई अवसरों पर लोगों को ऐसा कहते सुना था कि कायस्थ आधा मुसलमान होता है। हिन्दुओं में 'मुसलमान' शब्द, सर्वविदित ऐतिहासिक कारणों से, आदर अथवा प्रशंसा का वाचक नहीं बन सका। ब्राह्मणों ने मुसलमानों को म्लेच्छ कहना शुरू कर दिया था। कायस्थों को शूद्र समझते ही थे, शूद्र को म्लेच्छ से सहयोग करते देखकर उन्होंने उसे अर्द्ध-म्लेच्छ की संज्ञा दी हो तो कुछ अजब नहीं है। अंग्रेज़ी शासन में अंग्रेज़ी शिक्षा के मुक्त प्रचार से, और विधि व्यवस्था का भार उन्हीं पर सीमित न रहकर विविध वर्गों में विभक्त हो जाने से, वे 'अर्ध-कृष्टान' बनने से बच गए।

बहरहाल, कायस्थ अपनी शूद्रवत् स्थिति को बहुत समय तक स्वीकार करते रहे। भारतीय पुनर्जागरण के साथ, विशेषकर पाश्चात्त्य शिक्षा के प्रभाव में, विद्या-बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का सबूत देने पर उन्हें अपनी शूद्रवत् वाली स्थिति खलने लगी। उन्होंने अपनी व्युत्पत्ति, इतिहास आदि की खोज की, कई पुस्तकें लिखी गईं, किसी में उन्हें ब्राह्मण और किसी में उन्हें क्षत्रियी साबित करने का प्रयत्न किया गया। कुछ लोगों ने अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाना शुरू कर दिया, कुछ लोगों ने 'वर्मा' – हिन्दी लेखकों में बहुत-से वर्मा प्रसिद्ध

हुए – वृन्दावनलाल वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा – इनके पिताओं के नाम के साथ शायद ही 'वर्मा' जुड़ता हो। अपने विद्यार्थी जीवन में मैंने भी कुछ समय तक अपने नाम के साथ 'वर्मा' जोड़ा था, पर सौभाग्य से जाति-उपजाति की व्यर्थता और उसे नाम के साथ जोड़ने की निरर्थकता मुझ पर जल्द ही स्पष्ट हो गई – 'बेगिर बेगिर के नाम धराया एक माटी के भाँड़े।' – हाँ, 'वर्मा', जो कभी क्षत्रियों के नाम के आगे लगता था, जैसे ब्राह्मणों के नाम के आगे 'शर्मा'। आत्म-हीनता की भावना से अपने को मुक्त समझ लेने का भी कुछ अर्थ होता ही है।

शूद्रवत् वाली स्थिति से ऐतिहासिक आक्रोश स्वामी विवेकानन्द ने प्रकट किया। वे तो संन्यासी हो गए थे, उन्हें जाति-पाँति या जातिगत अभिमान के प्रति उदासीन रहना था, पर न रह सके। वे बंगाली कायस्थ थे, और जब अमरीका में वेदान्त के प्रचारक के रूप में उनकी ख्याति की प्रतिध्विन बंगाल की खाड़ी से टकराने लगी तब ईर्ष्यावश बंगाली ब्राह्मणों ने बंगाल के पत्रों में लिखा कि अमरीका जिसको सम्मान दे रहा है भारत में तो उसे शूद्र समझा जाता है, और उसे धर्म-प्रचार करने और धर्म के विषय में बोलने का कोई अधिकार नहीं है।

अमरीका से लौटकर मद्रास में भाषण देते हुए स्वामी जी ने कहा था, "मैंने समाज सुधारकों के मुखपत्र में पढ़ा था कि मैं शूद्र हूँ, और मुझसे पूछा गया था कि शूद्र को संन्यासी होने का क्या अधिकार है ? तो उस पर मेरा उत्तर यह है कि मैं उन महापुरुषों का वंशधर हूँ, जिनके चरण-कमलों पर प्रत्येक ब्राह्मण 'यमाय धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नम:' उच्चारण करते हुए पुष्पांजिल प्रदान करता है, और जिनके वंशज विशुद्ध क्षत्रिय हैं। यदि अपने पुराणों पर विश्वास हो, तो इन समाज-सुधारकों को जान लेना चाहिए कि मेरी जाति ने पुराने ज़माने में अन्य सेवाओं के अतिरिक्त, कई शताब्दियों तक आधे भारतवर्ष पर शासन किया था। यदि मेरी जाति की गणना छोड़ दी जाए, तो भारत की वर्तमान सभ्यता का क्या शेष रहेगा ? अकेले बंगाल में ही मेरी जाति में सबसे बड़े दार्शनिक, सबसे बड़े कवि, सबसे बड़े इतिहासज्ञ, सबसे बड़े पुरातत्त्ववेत्ता और सबसे बड़े धर्म-प्रचारक उत्पन्न हुए हैं। मेरी ही जाति ने वर्तमान समय के सबसे बड़े वैज्ञानिकों से भारतवर्ष को विभूषित किया है।"

पुराणों से क्या प्रमाणित होता है और इतिहास क्या सिद्ध करते हैं, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और शायद मनोरंजक भी होगा यह देखना कि लोकमत कायस्थों के विषय में क्या रहा है।

विद्या, ज्ञान, चिन्तन और बुद्धि-कुशाग्रता में ब्राह्मणों ने कायस्थों में अपना प्रतिद्वन्द्वी पाया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इससे निश्चय ही पारस्परिक स्पर्धा, प्रतियोगिता और ईर्ष्या की भावना ने जन्म लिया होगा। ब्राह्मणों के बनाए हुए ऐसे बहुत से संस्कृत श्लोक प्रचलित हैं जिनमें कायस्थों की निन्दा की गई है, या उन्हें गिराने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा ही एक श्लोक मैंने अपने लड़कपन में सुना था, और वह मुझे याद भी है –

कायस्थेनोदरस्थेन मातुर्मासं न भक्षितम्। न तत्र करुणा हेतुः हेतुस्तत्र अदंतता। कहने का तात्पर्य यह कि कायस्थ इतना क्रूर होता है कि आश्चर्य ही है कि जब वह पेट में था तब उसने अपनी माता का मांस क्यों नहीं खा लिया। ऐसा उसने किसी करुणा के कारण नहीं किया, बल्कि उस समय उसके दाँत ही नहीं थे। प्रसंगवश यह बता दूँ कि इस भीषण और विचित्र सूझ का उपयोग मैंने गाँधीजी की शहादत पर लिखी एक कविता में किया। नाथूराम ने महात्मा गाँधी का वध कर दिया!

'यह जितना ही मर्मान्तक उतना ही सच्चा, शान्तं पापं, जो बिना दाँत का था बच्चा करुणा-ममता-सी मूर्तिमान माँ को कच्चा देखते-देखते सब दुनिया के गया चबा।'

एक श्लोक मैंने और सुना था जिसमें 'कायस्थ' शब्द के प्रत्येक अक्षर से उसके एक अवगुण का संकेत किया गया था। इस समय वह मुझे याद नहीं है। ² उनकी क्रूरता पर एक उक्ति मैंने कभी अवधी भाषा में भी सुनी थी –

हौले-हौले दौड़ के काटैं, का जानैं पर पीरा, पर लोह़ के चाखन हारे कायथ औ' खटकीरा।

यह बात तो स्वामी विवेकानन्द ने भी मानी है कि शासन तन्त्र का अंग होने के कारण साधारण जनता के प्रति उनका व्यवहार निर्ममतापूर्ण अथवा क्रूर रहा होगा। उनके काम में घूस लेने के अवसर भी पर्याप्त होंगे, और जनता उनकी इस दुर्बलता से भी अपरिचित नहीं होगी। गाँवों में यह कहावत अब भी प्रचलित है, और कहावतें समयसिद्ध सामूहिक अनुभवों पर ही आधारित होती हैं:

कहे-सुने से ठाकुर मानै, बाम्हन मानै खाए, दिए-लिए से कायथ मानै, सूद मानै लतियाए।

लेने-देने का मौक़ा कायस्थ कहाँ नहीं निकाल लेता, इस पर एक क़िस्सा भी कहा जाता है कि उसकी इस आदत से आजिज़ आकर किसी हाकिम ने उसे एक बार लहर गिनने के काम पर लगा दिया, पर वहाँ भी उसने अपनी टेंट गरम करने का सामान कर लिया। वह माल-भरी नौकाओं को तट पर लगने ही न देता, कहता, "ठहरो, सरकारी लहरों का हिसाब गड़बड़ हो रहा है!" और साहूकार से जब कुछ पुजवा लेता तो नौका भी तट पर लग जाती है और लहरों का हिसाब भी ठीक बैठ जाता।

अलग-अलग अवगुणों को कहाँ तक गिनाया जाता, इसलिए उस पर ,संक्षेप में, कलंकी की छाप लगा दी गई थी। मैंने इस पर कभी एक पूरा कवित्त सुना था। न जाने किसने किस मौक़े पर सुना दिया था। मतलब का समझकर स्मृति ने केवल अन्तिम चरण संजो लिया होगा; बाकी भूल गया हूँ।

जौ पै सिंहवाहिनी निबाहिनी न होती कहूँ कायथ कलंकी काके द्वारे गति पावते।

लगता है कायस्थ लोग कभी शाक्त होंगे – दुर्गा के भक्त । हो सकता है मांस-मिदरा के प्रेमी होने के कारण उन्होंने शाक्त सम्प्रदाय को अपने अनुकूल पाया हो और उसे चुपचाप अपना लिया हो । बहुत से कायस्थ घरों में मांस-मिदरा को देवीजी के प्रसाद की ही संज्ञा दी जाती है – मेरे एक तिमलभाषी मित्र ने बताया था कि उनके यहाँ चावल को 'प्रसाद' कहते हैं और जल 'को 'तीर्थ' । भारतीय संस्कृति इस लम्बे-चौड़े देश में फैले विभिन्न रूपों को जोड़ने के लिए कैसी सूक्ष्म गाँठें लगा देती है ! 'पहले भोग लगा लूँ तेरा फिर प्रसाद जग पाएगा' – कविता में कहाँ-कहाँ के संस्कार आकर बोल जाते हैं !

कायस्थ के वाक्-चातुर्य और बुद्धि-कौशल के भी क़िस्से कहे जाते हैं। हमारे एक अध्यापक पण्डितजी कहा करते थे कि कायस्थ की मुई खोपड़ी भी बोलती है। उन्हीं से मैंने सुना था कि एक बार किसी ने देवी की बड़ी आराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर एक वरदान देने को कहा। इधर माँ अन्धी, पत्नी की कोख सूनी, घर में ग़रीबी। बड़े असमंजस में पड़ा – माँ के लिए आँख माँगे कि पत्नी के लिए पुत्र कि परिवार के लिए धन? जब सोच-सोचकर हार गया तो एक कायस्थ महोदय के पास पहुँचा। उन्होंने कहा, "इसमें परेशान होने की क्या बात है, तुम कहो कि मैं यह माँगता हूँ कि मेरी माँ अपने पोते को रोज़ सोने की कटोरी में दूध-भात खाते देखें!"

एक और क़िस्से में बताया जाता है कि एक दफ़ा किसी ने एक प्रेत सिद्ध कर लिया। प्रेत ने कहा, 'मैं बेकार नहीं बैठ सकता, मुझे कुछ काम बताना पड़ेगा, और काम नहीं बतलाओंगे तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा।" उन्होंने एक काम बताया, प्रेत फ़ौरन करके आ गया, "काम बताओ।" दूसरा काम बताया, वह भी जल्द ख़त्म करके आ गया, "काम बताओ।" वे जो भी काम बताते, प्रेत बात की बात में उसे पूरा करके आ जाता और कहता, "काम बताओ, नहीं तो खाता हूँ।" बड़े संकट में पड़ गए, अन्त में एक कायस्थ की शरण में पहुँचे। उसने कहा, "इसमें घबराने की क्या बात है, तुम आँगन में एक लम्बा-सा बाँस गाड़ दो, जब कोई काम न हो तो प्रेत से कहो, चढ़ो- उतरो।" प्रेत ने एक ही दिन में चीं बोल दी।

बुद्धि से जो बली होता है प्रायः शरीर से दुर्बल होता है। कायस्थों की शारीरिक दुर्बलता की ओर व्यंग्य करने के लिए कहा जाता है कि पाँच लाला से एक मूली नहीं उखड़ी। बात यह थी कि मुंशीजी किसी खेत से मूली चुराकर खाते थे। जब खेतवाले ने शिकायत की तो क़ाज़ी ने कहा, 'मेरे सामने मूली उखाड़कर दिखाएँ। मूली उनसे नहीं उखड़ी तो एक के बाद एक चार और कायस्थ उनके साथ लग गए। तब भी मूली नहीं उखड़ी। कायस्थ राम बेवकूफ थे जो मूली उखाड़कर चोरी करने का पहला सबूत पेश कर देते ? कायस्थ बड़े अच्छे अभिनेता होंगे कि प्रदर्शन तो करते थे मूली को ऊपर खींचने का, पर दाबते जाते थे उसे नीचे !

कायस्थ कितना ख़तरनाक साबित हो सकता है, इसके बारे में एक कहावत मैंने तब सुनी जब श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री चुने गए। 'टाइम्स' मैगज़ीन ने उन पर लिखते हुए बताया कि ये उस जाति के हैं जिसके बारे में भारत में कहा जाता है कि "अगर साँप और कायस्थ एक साथ मिलें तो पहले कायस्थ को मारो।"

पर कायस्थ को मारना इतना आसान भी नहीं है। शायद इस कहावत को कायस्थों ने ही चलाया होगा कि 'की कायथ को कायथ मारै की मारै करतार।' इसमें जहाँ उनके सख्त-जान होने की घोषणा की गई है वहीं उनकी पारस्परिक ईर्ष्या का भी संकेत है।

दुनिया में किसी भी काम को सफलतापूर्वक करने के लिए इच्छाबल की बड़ी आवश्यकता होती है और ब्राह्मण इच्छाबल का धनी माना जाता है – 'तप बल बिप्र सदा बरियारा।' चाणक्य ने अपनी चोटी खोली तो नन्द वंश का नाश करके ही उसमें गाँठ दी। यहाँ भी कायस्थ ने ब्राह्मण से हार नहीं मानी। यह कहावत भी उसी की ईजाद होगी:

जो बरम्हा कहुँ राखैं टेक, न सौ बाम्हन न कायथ एक।

जहाँ जनता जातियों में बँटी हो वहीं पारस्पिरक ईर्घ्या-द्वेष, अपने गुण और दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्ति बड़ी स्वाभाविक है। उपर्युक्त उक्तियाँ इसका सबूत हैं। साथ ही यह भी सच है कि समान जीवन, रहन-सहन, व्यवसाय – और जातियाँ इसी आधार पर बनी है – एक विशेष प्रकार के चिरत्र का निर्माण कर सकता है। समाज-विकास की जिस स्थिति में व्यक्ति ने अपनी विशिष्टता नहीं प्राप्त की उसमें जाति-चिरत्र व्यक्ति के ऊपर आरोपित कर देने में भारी भूल भी नहीं हो सकती। व्यक्ति जातिस्तर पर ही रहता है। जातिगत आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ जहाँ पारस्पिरक संघर्ष सिद्ध करती हैं, वहाँ पारस्पिरक सहयोग भी सूचित करती हैं। चार दोस्त, जिस प्रकार, एक-दूसरे के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए एक-दूसरे को सही और संतुलित मार्ग पर रख सकते हैं, उसी प्रकार जातियाँ भी कर सकती हैं और करती भी हैं। प्रारम्भिक कटुता कालान्तर में व्यंग्यात्मक और विनोदात्मक हो जाती है। हमारे नगरों में, जहाँ जातिगत बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्तिगत विशिष्टता उभर रही है, लेकिन हमारे गाँवों में व्यक्ति अब भी जातिगत स्तर पर रह रहा है। वहाँ अब भी ऐसी उक्तियाँ व्यक्ति और व्यक्ति के बीच आलोचना, व्यंग्य और विनोद की माध्यम बनी हैं और किसी रूप में अपना सुधार सम्बन्धी कार्य भी करती जाती हैं। और हम जो अभी अपने ग्रामीण संस्कारों से बिलकुल ही नहीं कट सके हैं, इन्हें अपनी स्मृति में सँजोए हुए हैं। हम जिन रास्तों से होकर आए हैं वे हमारी आगे की गति-प्रगति को प्रभावित नहीं करते, इसे मानने के लिए मैं तैयार नहीं हुँ।

इसीलिए मैं आज इस बात को सबसे पहले स्मरण करना चाहता हूँ कि पुराण, इतिहास, लोककथाओं और लोकोक्तियों में, जिनको इस रूप में चित्रित किया गया है, मैं उन्हीं का वंशधर हूँ।

......

- 1. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', के इस प्रसंग को पढ़कर श्री राय कृष्णदास ने मुझे सूचित किया 'जब काशी के पण्डितों ने कायस्थों को क्षत्रियत्व का व्यवस्था-पत्र दिया (जिस पर भारतेन्दुजी ने 'सबै जाति गोपाल की' प्रहसन लिखा) तब यहाँ के एक बुजुर्ग कायस्थ ने एक बड़ी ही सुन्दर बात कही 'भाई, अभी तक हम लोग विष्णु भगवान् के उस अंग से अपनी उत्पत्ति मानते थे जिस अंग को सब पूजते हैं' (पदभ्यां शूद्रो अजायत)। अब उस अंग से अपनी उत्पत्ति मानने चले हैं जिसको कोई नहीं पूजता (बाहूः राजन्यः कृतः)।"
- ^{2.} एक पाठक ने मुझे वह श्लोक लिख भेजा है -

काकाल्लौत्यं, यमात्क्रौर्यं स्थपतेर्दृढ्धातीताम्। आद्याक्षराणि संगृह्य कायस्थः के निर्मितः॥



किन्नर देश की ओर

- राहुल सांकृत्यायन

17 मई को रामपुर से प्रस्थान किया । यद्यपि मेरे पास एक ही खच्चर का सामान था, किन्तु पहाड़ में अकेला खच्चर ले जाया नहीं जा सकता, इसलिए सामान के लिए दो खच्चर और सवारी के लिए एक घोड़े का प्रबन्ध किया गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ठाणादार से ही मैं सरकारी खच्चरों और घोड़ों का व्यवहार कर रहा था। भाड़े के भी इधर खच्चर चला करते हैं, किन्तु उनका मिलना कोई निश्चित नहीं रहता। वैसे सरकारी खच्चर पर जितना खर्च आता है, उससे अधिक भाड़े के खच्चरों पर नहीं आता। मैंने शाम को ही कह दिया था कि हमें बड़े सवेरे चलना है। सवेरे समय से थोड़ी देर बाद खच्चर रवाना हो सके। सरदार साहब से और विद्याधरजी से बिदाई ली। थोड़ा आगे चलकर घोड़े पर सवार हुआ। थोड़ा ही आगे गए कि घोड़ा कुछ ठमकने लगा। समझा - शुरू है, आगे ठीक हो जाएगा। और चले, किन्तु वह रफ्तार। साथ चलने वाले लड़के से पूछा -घोड़े की पीठ तो कटी नहीं है ? लड़के ने पहिले इधर-उधर करना चाहा, किन्तु जोर देने पर बोला – हाँ, पीठ कटी है। आख़िर रियायती नौकर ठहरे कि। मेरे एक मित्र की सगी बहिन एक रियासत की विधवा रानी थीं। छोटे भाई के आने पर आवभगत क्यों न करतीं ? चलते समय बहिन रानी ने भाई को मिठाई और दूसरी चीजों के साथ एक अच्छा साफा भी दिया। भला नौकर-चाकरों के रहते रानी साहब के भाई अपने हाथ से उन चीजों को कैसे उठाकर ले जाते । बाहर आकर जब गाड़ी में भेंट रखी गई, तो साफा नदारद । विदा होकर चले आए भाई, क्या फिर लौटकर साफे के उड़ने की बात कहने जायेंगे - राज्य के नौकरों को यह बात भली-भाँति ज्ञात थी। राज्य के अतिथियों को ऐसा अनुभव अक्सर प्राप्त होता है। खैर, मुझे तो घोड़ा भेंट में मिला नहीं था और न अस्तबल के खासादार को इससे विशेष लाभ हुआ होगा। शायद अच्छा घोड़ा पाने के लिए भी अस्तबल के बड़े साईस को पहिले से बखशीश देनी चाहिए थी जिससे मैं अनभिज्ञ था। कटी पीठ के घोड़े पर मैं चार दिन पहाड़ों को पार करते चिनी कैसे पहुँच सकता था ? पहुँच सकता, तो भी मेरे पास वह दिल न था। मैंने घोड़े को लड़के के हवाले करके कहा - इसे तुरन्त अस्तबल में ले जाकर दूसरा घोड़ा बदल के ले आ; मैं गौरा में प्रतीक्षा करूँगा। वह 'हाँ' करके लौट गया। मैंने विश्वास किया कि घोड़ा अवश्य गौरा आ जाएगा। थोड़ा आगे एक कनोरा पुरुष मिला। मैंने सोचा, शायद लड़का डर के मारे अस्तबल वालों से बात न करे, इसलिए मैंने इस पुरुष से खास सेक्रेटरी बाबू प्यारेलालजी के पास सन्देश भेजा।

नौ मील कोई बात नहीं । यद्यपि मैं इधर शरीर से निर्बल था और अभी पहाड़ की चढ़ाई-उतराई का अभ्यस्त भी न हो पाया था, तो भी घोड़ा आने के भरोसे बड़ी निश्चिन्तता से आगे चला । तीन-साढ़े तीन घण्टे में गौरा डाकबँगले में पहुँच गया । गौरा रामपुर से ढाई हजार फीट से अधिक, अर्थात् समुद्रतल से 6518 फुट ऊँचा है, इसलिए रास्ते में चढ़ाई भी पड़ी । मुझे दोपहर को वहाँ विश्राम करना था । दो-तीन घण्टे में घोड़े के भी आ जाने की पूरी उम्मीद थी । किन्तु घोड़ा कहाँ आने वाला था ? आगे चिनी तक खच्चर के साथ जाने के लिए दौलतराम आ पहुँचे । घोड़े के बारे में पूछने पर बतलाया – हाँ, वह सही-सलामत अस्तबल में पहुँच गया । इँझलाने से क्या लाभ, आख़िर यह तो रियासती आतिथ्य का एक अभिन्न अंग है । तीन घण्टे की प्रतीक्षा काफ़ी थी । आगे अभी

चतुर्थ सेमेस्टर द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य) हिन्दी के विविध गद्य-रूप निर्धारित पाठ्यपुस्तक MAHD - 20 Page 86 of 175

12 मील चलना था और रास्ता और भी कड़ी चढ़ाई-उतराई का। गौरा में घोड़े की आशा नहीं थी। यही गौरा था जहाँ के कोलियों ने मास्टर अनुलाल को छुड़ा लिया था और यही डाकबँगला था जिसमें राज की पुलिस और अधिकारियों ने शरण ली थी, गोली चलाई थी और अन्त में आत्मसमर्पण किया था।

10 मील के रास्ते में उतराई या समतल पथ पर तो कुछ नहीं मालूम हुआ, हिम्मत भी करने की जरूरत नहीं पड़ी, किन्तु अन्तिम चार मील कड़ी चढ़ाई के थे। धूप भी तेज थी, ऊपर से डायबेटिस वाले आदमी का तालू वैसे ही सदा सूखा रहता है। मत पूछिए, अन्तिम चार मीलों ने मेरी क्या गत बना दी। बस यही समझिए, – 'केनापि देवेन हृदस्थितेन यथानयुक्तोस्मि तथा करोमि' वाली हालत थी। कष्ट असह्य था, किन्तु हिम्मत छोड़ने की बात न थी, जानता ही था, बिना सराहन पहुँचे शरण नहीं। रास्ते में बुशहरी नारियाँ डाँडे पर के किसी मेले से खूब बनी-ठनी लौट रही थीं, कोई गीत भी गा रही थीं, किन्तु यहाँ देखने-सुनने के लिए दिल कहाँ था ? आगे तो चल रहा था, किन्तु हर पाँव घण्टे पर जान पड़ता था, पैरों में नई पंसेरी बाँधी जा रही है। क्या दिल मानने के लिए तैयार था कि आज 79वें मील पर (शिमला से) पहुँचेंगे। लेकिन आख़िर 21 मील की यात्रा करके सूर्यास्त के समय सराहन के डाकबँगले पर पहुँच गया।

बँगला बंद था। कोई मेला हो और पहाड़ी जवान वहाँ से अनुपस्थित हो, यह क्या कोई होनी बात है ? मालूम हुआ – चौकीदार साहेब वहाँ गए हुए हैं, आज रात को शायद ही लौटें। मेला तो होता है किसी बड़े शिक्तशाली देवता का ही। िकन्तु उसमें डटकर शराब पीना, नाचना-गाना सबसे आवश्यक चीज है। आस-पास की सारी तरुण-सौन्दर्य-राशि जहाँ राशिभूत होती है, फिर "वहाँ नहीं यहीं बैकुन्ठा" मानने वाले क्यों पिछड़ेंगे खैर, भंगी अर्थात् कोली बूढ़ा कुछबीमार था, इसलिए वह मेला न जा सका था, नहीं तो उस थकावट में सात हजार फुट की रात को बाहर घास पर बैठना बहुत प्रिय नहीं लगता। बूढ़े ने कहीं से कुर्सी पैदा की। पूछताछ करने पर मेट (चारस) के पास चाभी निकल आई। अब चाहे चौकीदार रात भर मेला करता रहे, हमें पर्वाह नहीं थी। कुछ देर बाद दौलतराम भी खच्चरों को हाँके आ पहुँचे, किन्तु उनकी मनहूस सूरत देखकर हमारी अवस्था बेहतर नहीं हो सकती थी। जान पड़ता था, वह हमसे भी अधिक थके-माँदे हैं। उन्होंने जो भी खच्चरों के लिए दाने-चारे की फर्माइश की, देकर पिण्ड छुड़ाया – प्रति खच्चर प्रतिदिन दस रुपये से क्या कम खर्च था।

दोपहर को छाछ भर पिया था, इसलिए भूख तो लगनी ही ठहरी, किन्तु इस समय थोड़ा लेट जाने का ख्याल था। नेगी ठाकरसेन का पत्र यहाँ के मिडिल स्कूल के मास्टर साहेब को मिल गया था और मास्टर सोहनलाल पता लगते ही आए – सराहन बस्ती कुछ फर्लांग ऊपर है। हम तो दौलतराम की रसोई में शामिल होना चाहते थे, किन्तु मास्टरजी ने घर से भोजन और दूध लाने का आग्रह किया। एवमस्तु ! किन्तु हमें सबसे अधिक चिन्ता थी कल की यात्रा की, अगले दिन पैदल चलने की शक्ति नहीं थी। मास्टर साहब ने जितनी जल्दी घोड़ा मिल जाने की बात की, उस पर मेरा विश्वास नहीं हुआ – पहाड़ी लोग न करना जानते नहीं, किन्तु हर "हाँ" को पूरा करना उनकी शक्ति के बाहर है। फिर पूछने पर मास्टर सोहनलाल ने कहा – घोड़ा हमारे परिचित बनिये का है। मुझे 22 साल पहले नौला के बनिये के साथ का अनुभव याद आ गया, कहीं यहाँ भी वैसा ही न हो। दिल पत्थर करके सोचा – खैर, यहाँ सिर पर छत तो है, साफ-सुथरा, पी॰ डब्लू॰ डी॰ का बँगला, पलंग, मेज, कुर्सी मौजूद है।

सराहन में दूध, भोजन मिल जाएगा ही, हाँ खच्चरों को भी आदमी के साथ बीस-बाईस रुपये रोज खिलाने पड़ेंगे। किन्तु मैं आजकल के रुपयों को खर्च करते समय पहिले चार से भाग दे दिया करता हूँ, आख़िर 1939 में चार आने की चीज का भी मूल्य तो आजकल एक रुपया है। खाना लाकर मास्टरजी ने कहा – बनिया घोड़ा दे देगा। क्यों नहीं देता ? शायद उसका लड़का स्कूल में मास्टरजी के पास पढ़ता हो। और मास्टरजी के पास नेगी ठाकरसेन की महापण्डित के बारे में जबर्दस्त चिट्टी आई थी। मास्टरजी ने कहा – घोड़े का किराया नचार तक, अर्थात् 23 मील के लिए 20 रुपया माँगता है। बीस यानी 5 रुपये, कोई पर्वा नहीं। मैंने घोड़े को ठीक कर देने के लिए कहा।

सराहन ऐसा महत्त्वहीन स्थान नहीं है कि रात भर डाकबँगले में रहकर उससे छुट्टी ले ली जाए, लेकिन मुझे फिर इसी रास्ते लौटना था। सराहन का सतयुग का इतिहास भी ढूँढ़ने पर मिल सकता है। द्वापर के अन्त में जब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकंद द्वारिका में वास कर रहे थे, तो इसका नाम शोणितपुर था। यही प्रचंड-भुजदंड वाणासुर की राजधानी थी। यहीं उसकी कन्या उषा ने चित्रलेखा के खींचे चित्रों से अपने स्वप्नाभिलिषत प्रियतम अनुरुद्ध को पकड़ मँगवाया था। उसी अनुरुद्ध की अविच्छिन्न परम्परा पिछले महाराजा पदमिसंह और उनके वर्तमान चिरंजीवी वीरभद्र सिंह तक चली आई है। प्राचीन नाम शोणितपुर और वर्तमान नाम सराहन के महत्त्व के बारे में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है ? और प्रमाण चाहिए, तो वह स्वयं सराहन नाम में दिया है जो शोणितपुर से ही बिगड़ कर बना है। किस भाषातत्त्व या व्याकरण के अनुसार, यहाँ के पण्डित प्रवर मूर्खजपाटानन्द से पूछ लीजिए, जो यहाँ से थोड़ा ही नीचे के रावी गाँव में सतयुग की पोथी लेकर बैठे हुए हैं। इस पोथी को न इनकी हजार पीढ़ी पढ़ सकी और न वह खुद। बल्कि वह पोथी तह पर तह कपड़ों से लिपटी सारे कलियुग में भी न खुली और यदि रामजी की इच्छा होगी, तो आग-वाग लगने पर कोयला बनकर ही खुलेगी।

सराहन रामपुर से पहिले काफ़ी समय तक बुशहर की राजधानी रहा जो पीछे गर्मियों भर के लिए ही श्रीचरणों से पिवत्र होता रहा । यहीं मैंने 1926 में महाराजा पदमिसंह के दर्शन िकए थे । उस समय रामपुर से यहाँ तक टेलीफोन भी था । अब टेलीफोन खतम हो चुका है, रास्ते के खम्भे भी बहुत से लेट गए हैं । 21 मील लम्बा तार मुफ्त में लुट रहा है । अधिकारियों को पता नहीं है िक जल्दी ही उन्हें नचार तक टेलीफोन नहीं , तार पहुँचाना होगा यदि हिमाचल सरकार के स्वप्न "सतलुज उपत्यका फलों की खान" को जागृति में परिणत करना है । राजा और उनकी ग्रीष्म की राजधानी न सही, सराहन अच्छा बड़ा गाँव है और यहीं सारे बुशहर की अधीश्वरी भीमाकाली आपरूप निवास करती हैं । मुझे इन बुशहरियों पर झुँझलाहट आती है । हमारे देखते-देखते गढ़वाली आधे दर्जन नकली काशी, नकली प्रयाग, यहाँ तक िक नकली बद्रीनारायण भी बनवाकर मालामाल हो गए – "नकली बद्रीनारायण" । यह मैं गंगोत्तरी के पण्डों के गुरु वैदिकजी की बात मानकर कहता हूँ जिनका कहना था िक असली या आदि बदरी भीट देश में थोलिंग मठ में हैं जिन्हें लामा लोग पूजते हैं । भीमाकाली के आद्या भगवती होने में सन्देह नहीं । कहते हैं, उनके खजाने में राजा रामचन्द्रजी के रुपये-पैसे रक्खे हुए हैं, फिर तो त्रेता तक के लिए बात पक्की ठहरी । माई के दर्शन की लालसा तो है लौटते समय, लेकिन मुश्किल है िक माई का द्वार मेरे जैसे वज्र नास्तिक तो क्या, बुशहर राज्य के बाहर पैदा हुए निपट आस्तिक के लिए भी बंद है । खैर, और नहीं तो लौटते समय चौखट का तो दर्शन हो जाएगा और अगस्त के सूर्यनारायण ने कृपा की, तो माई के मन्दिर के चित्र का दर्शन

आर्यावर्त के पुण्यवान् प्राणियों को भी हो जाएगा। खजाने के रामचन्द्री रुपयों के दर्शन की लालसा तो किसी की भी पूरी न होगी, क्योंकि अनुशाही प्रचार के अनुसार माई के खजाने को तोड़कर सरदार उसे न जाने कहाँ उठा ले गया।

$X \qquad X \qquad X$

मिति 18 मई दिन मंगल ईसवी साके 1948 का ब्राह्ममुहूर्त आया। मास्टर सोहनलाल कुछ प्रातराश लेकर पहुँचे और इस सन्देश के भी साथ, कि घोड़ा आ रहा है, आज ही उसे नचार से लौटा वीजिएगा। 23 मील पहाड़ी यात्रा थी, किन्तु कल तो मैं पैदल ही 21 मील चला आया था। मास्टर साहब के वर्णन से बनिये का घोड़ा राजा भोज के कल वाले कठघोड़े से कम तेज न था। जलपान किया। दौलतराम को ताकीद करके सबेरे ही खाना कर दिया। शाम ही को उन्हें दिन की रोटी गाँठ बाँध लेने के लिए कह दिया था। अपनी रोटी तो आराम से मिल रही थी, चाहे आटा सेर सवा सेर का ही हो, किन्तु रास्ते में कनक को पानी के बिना झुलसते देखकर चित्त खिन्न होता था। मेघ देवता प्रसन्न नहीं थे और सतलुज माई – नहीं बाबा सतलुज, क्योंकि यहाँ वालों ने सतलुज का नाम समंदर ख छोड़ा है – मुफ्त ही इतनी बड़ी जलराशि बहाए लिए जा रही हैं। सूर्यनारायण उग आए। आसमान में बादल की कहीं एक फुटकी भी न थी। थोड़ी देर में घोड़ा भी आ पहुँचा। कादम्बरी में वर्णित इन्द्रायुध से डील-डौल में क्या कम था? हाँ, पहाड़ी टाँघनों में अर्थात् उसकी अपनी जाति में वह सबसे बड़ा घोड़ा था। कहते थे, उसे कोई सौदागर यारकंद से बेचने के लिए लाया। राजा पदमिसंह ने अपने लिए खरीदा था जो पीछे की राजविराजी से होते अब वाणासुर की राजधानी के बनिये के हाथ में पड़ा, और, शायद कुछ समय बाद उसके भाग्य में लदनी बदी है। मुझे उसके भाग्य पर तरस आया। क्या जाने यारकंद में आए च्लेज खाँ के श्यामकर्ण घोड़े का वह वंशज हो और उसकी यह भवितव्यता।

यह कहना शायद भूल गया कि चौकीदार साहेब रात को ही सही-सलामत पहुँच गए थे। चलते समय डाकबँगले का रजिस्टर मँगाया। देखा – वह पी॰डब्लू॰डी॰ का है। अपने राम 22 वर्ष पहिले की स्मृति पर समझते थे, तिब्बत-हिन्दुस्तान सड़क पर सारे बँगले वहाँ के जंगलों की तरह पंजाब के जंगल-विभाग के हैं और इसी विश्वास पर पंजाब के चीफ कंजवेंटर साहेब से आज्ञापत्र भी लाए थे। रजिस्टर में पूछा गया था – आज्ञापत्र ? पंजाब सरकार के एक विभाग का आज्ञापत्र तो था, किन्तु चाहिए प्रधान इंजीनियर का। जिस चौकीदार पर हम आते समय इतना बौखलाये थे, वह आज्ञापत्र दिखलाने के लिए कह सकता था और न देने पर अर्धचन्द्र दे सकता था। किन्तु सौभाग्य से सरकारी कायदे-कानून जैसे निष्ठुर होते हैं, वैसे उसके यह साधारण सेवक नहीं हैं। समझ में नहीं आता, दस-पाँच दिन छोड़कर इन बहुधन-सम्पादित बँगलों को साल भर बंद रखने से सरकार ने क्या लाभ समझा है ? सरकारी अफसरों को पहिले स्थान मिले ठीक, आज्ञापत्र पाने वालों को भी पहिले स्थान दिया जाए; किन्तु खाली बँगले को साधारण यात्री के लिए क्यों नहीं खोल दिया जाए? मैं डाकबँगलों को धर्मशाला बनाने की सिफारिश नहीं करता, बल्कि मैं तो कहूँगा, एक रुपया प्रतिदिन शुल्क बहुत कम है, उसे कम-से-कम दो या तीन कर देना चाहिए। बँगले और उसके असबाब इतने अच्छे हैं कि आदमी को तीन रुपया रोज देने में भी उच्च नहीं होना चाहिए। बस उक्त शुल्क के साथ खाली बँगले का दरवाजा सबके लिए खोल देना चाहिए। भला सोचने की

बात है यदि किन्नर की रम्य पर्वतस्थली में खाने-रहने का अच्छा प्रबन्ध हो, हजारों की संख्या में यात्री मैदान से यहाँ विचरने के लिए आयें, तो इसमें यहाँ के निवासियों को लाभ है या नहीं ? इंग्लैंड, स्वीट्जरलैंड और दूसरे पश्चिमी देश करोड़ों रुपया विज्ञापन में खर्च कर सैलानियों को अपने यहाँ आकर जेब खाली करने का निमन्त्रण देते हैं और यहाँ है एक सरकार, जो आने वाले को भी दुत्कारती है। खैर, हिमाचल सरकार की भूमि में दाल-भात में मूसलचन्द पंजाब सरकार का यहपी॰डब्लू॰डी॰ पुराने अंग्रेज प्रभुओं के चरण-चिह्न पर चल रहा था।

अब अपना जंगल, अपनी सड़क, अपना बँगला हिमाचल सरकार के हाथ में आएगा, फिर उसे चाहिए कि यात्रियों को आने के लिए अधिक-से-अधिक सुभीता दे। मैं तो यह भी आशा करता हूँ कि आगे चलकर हर बँगले के साथ रसोइया, चाय-टोस्ट और भोजन का भी प्रबन्ध हो और सौभाग्य से इस भूमि को यदि 'सूखा' न बनना पड़े, तो किन्नर देश को स्वयंप्रसूता उदुंवरवर्णा द्राक्षी मिदरा भी अतिथियों के लिए सुलभ होगी। उदुंवरवर्णा सुरा का नाम शास्त्रों में पढ़कर मुझे उसके प्रति बहुत सम्मान हुआ था और "शराब गुलँगू" और "ब्लडरेड वाइन" की सुन्दर ध्वनियों से वह और बढ़ा था। किन्नर में आकर पता लगा कि वहाँ श्वेत द्राक्षी मिदरा के सामने रक्ताभा को घटिया समझते हैं। किसी भी काले अंगूर के रस को कुछ समय खास तौर से रख छोड़ने पर वह उदुंवरवर्णा सुरा में परिणत हो जाता है, किन्तु महाश्वेता सुरा भाप से चुवाने पर बनती है, अतएव उसका दाम भी अधिक, मान भी अधिक है। किन्नर देश ने इधर कुछ सालों में द्राक्षी मिदरा बनाने में अधिक प्रगित की है। वैसे द्राक्षा (अंगूर) और मिदरा किन्नर के लिए नई चीज नहीं है। पिछली सदी में पोआडी (चिनी के पार) के जागीरदार ने अफसोस प्रकट किया था, "किन्नर लोग द्राक्षा के बाग की ओर से उदासीन हो रहे हैं, यहाँ बहुत तरह के अंगूर थे, किन्तु अब पोआडी में सिर्फ अठारह जाति के रह गए हैं।" नेगी सन्तोखदास (रोगी) ने यह कथा कहते हुए बतलाया, अब पोआडी में एक लता भी द्राक्षा की नहीं है।

किन्नर के मानसून-बाह्य इलाके में फलों के साथ द्राक्षा ने काफ़ी प्रगित की और उसमें मिदरा का मुक्त मार्ग बड़ा सहायक हुआ है। पिछली बार 1926 में जब मैं किन्नर से गुजरा था, उस समय महाराजा पदमिसंह ने अपने राज्य में मिदरा बंद कर दी थी (शायद पीना नहीं, बनाना बंद कर दिया था जिसमें लोग सरकारी दूकानों से खरीद कर पीयें); लेकिन कायदा चलने नहीं पाया। लोग चुपचाप बना कर पीते और राजा को अँगूठा दिखला देते। पीछे युवराज के मुण्डन-महोत्सव में राजा ने मिदरा के प्रतिरोध को बंद कर दिया। बतलाने वालों ने गम्भीरता के साथ कहा – यहाँ के देवताओं ने भी बहुत जोर लगाया और राजा से कहा – "मिदरा बिना हमारा काम नहीं चलता।" उधर राजा करीब-करीब अपने परिवार का संहार करा चुका था। और कितने दिनों तक डटा रहता ? फिर जिस तरह भगवान् ईसा मसीह के नायब रोम के पापा, एकिलंग के नायब उदयपुर के राजा, उसी तरह तो भीमाकाली के नायब थे बुशहर के राजा। और भीमाकाली कम से कम द्वापर से कनोर के शिबू (लाल शराब) की आदि थी, रोगी से शिबू लाने के लिए एक परिवार को अब भी जागीर मिली हुई है।

पाठकों को मालूम हो कि यदि मार्ग का अच्छा प्रबन्ध और खाने-रहने के अच्छे स्थान बन जायें, तो भाग्यवानों को यहाँ "शिबू" उदुंवरवर्णा किन्नरी सुरा सुलभ रहेगी। सिर्फ खय्यामों की आवश्यकता है साकी हजारों सुराही लिए यहाँ तैयार मिलेंगे। शम्पेन और बरांडी को मात करने वाली किन्नरी सुरा यहाँ मौजूद है। मैं

उसके घर में पहुँच गया हूँ, किन्तु अभाग्य के लिए क्या किया जाय, "पानी में मीन प्यासी" कहना चाहिए। इस जन्म में तो ब्रह्मा ने सुरा चखना नहीं लिखा और अगले जन्म पर विश्वास नहीं। मैं न सही, दूसरों का ही रास्ता साफ हो। मैं चाहता हूँ, हिमाचल सरकार का संकल्प पूरा हो, नचार तक मोटर-सड़क बन जाए और मेरा भी स्वप्न पूरा हो, पचीस मील की रोपवे (तारगाड़ी) चिनी तक लग जाए। फिर क्या जरूरत होगी बाहर करोड़ों रुपया भेजकर अंगूरी शराब मँगाने की जब कि किन्नरी सुरा सारे भारत के लिए सुलभ हो। यह तो मुझे विश्वास है कि चाहे सारा भारत "सूखा" बन जाए, किन्तु किन्नर के देवताओं से उत्प्रेरित यहाँ के मनुष्य किन्नर देश को उसी तरह सूखा नहीं होने देंगे जिस तरह उन्होंने पदमसिंह के कानून को ताक पर रख कर किया।

हाँ, तो हमें आगे चलना था और इन्द्रायुध भी आकर तैयार था, इसलिए पाठकों को भी प्रतीक्षा कराना अच्छा नहीं। इन्द्रायुध की प्रशंसा मैंने या मास्टर सोहनलाल ने गलत नहीं की। वह वस्तुतः सुन्दर, स्वस्थ और बड़े कद का घोड़ा था। घोड़े पर अच्छी चमड़े की काठी लगी हुई थी। वैसे घोड़े से मैं उतना डरता नहीं, किन्तु पहाड़ी सड़क पर अड़ियल घोड़े से पाला पड़ना अच्छा नहीं है। मैंने थोड़ी देर चढ़ने के बाद समझ लिया कि इन्द्रायुध लगाम क्या हल्की छड़ी को भी बर्दाश्त कर लेता है; तीर की तरह तेज तो नहीं, िकन्तु बहुत सुस्त भी नहीं चलता। घोड़े के साथ साईस भी था जिसका इस बात पर बहुत जोर था कि वह बिनए का नहीं, राजा का साईस है, िकसी काम के लिए सराहन आया था, बिनए ने हाथ-पैर जोड़े, इसलिए साथ चल रहा है। वह समझता होगा, उड़ते पंछी को यहाँ की बात क्या मालूम ? मैं जानता था, राजा के विराज होने पर न जाने कितने घोड़े और साईस ही बेमालिक के नहीं हुए हैं, बिल्क भीमाकाली के प्रताप से जीने वाले सारे रावी गाँव के ब्राह्मणों में भी कुहराम मचा हुआ है, सरकार ने देवी के अस्सी हजार खर्च को घटाकर पन्द्रह हजार से कम कर दिया है। ब्राह्मण-देवता जरूर घर पर निराहार पुरश्चरण करते होंगे। उनके लिए इससे अच्छा तो फिरंगियों का राज्य था। अच्छा देवताओं! कोई पर्वा नहीं, तुम्हारे पास कपड़े में लिपटी वह सतयुग की पोथी है। सुनते हैं – उसमें सोना नहीं पारस बनाने की विधि लिखी है।

सराहन पहाड़ पर ढलवाँ बसा हुआ है और काफ़ी नीचे तक। यह राजधानी के लायक स्थान है, लेकिन राजा केहरसिंह को न जाने किसने भाँग खिला दी जो राजधानी रामपुर ले गए। सराहन के बारे में और फिर कभी। डेढ़-दो मील चलने पर पर्वतवाही – जिसे यहाँ वाले धार कहते हैं – के पीछे पहुँचते ही सराहन आँख से ओझल हो गया, लेकिन अभी हम किन्नर देश में नहीं पहुँचे। अभी तीन-एक मील और चलना पड़ा। मान्योटी की धार (पर्वत-वाही) आई। यहाँ से हम असली किन्नर-देश में प्रविष्ट हुए। िक्याँ ऊर्ण सारी पहने थीं। हाँ, ऊर्ण सारी को ऊनी साड़ी न मान लीजिए, यह काफ़ी लम्बा-चौड़ा-पतला कम्बल होता है जिसे िक्याँ दाहिना कन्धा खोले काँटे से इस प्रकार पहिनती हैं कि सिर को छोड़कर सारा शरीर ढँक जाता है। यहाँ से नीचे के लोगों को किन्नर लोग कोची कहते हैं। कोची िक्याँ सिर पर रूमाल बाँधती हैं, किन्तु किन्नरियाँ अपने पुरुषों की भाँति टोपी लगाती हैं जिसके तीन भाग में उठे कनपटे जाड़ों में नीचे गिरकर कनटोप का काम देते हैं।

रास्ता तिब्बत-हिन्दुस्तान सड़क का था, किन्तु सड़क कैसी थी, इसे इसी से समझ लीजिए कि मैंने यहाँ चलकर तय कर लिया कि यदि चिनी को अपना गर्मियों का हेडक्वार्टर बनाना है, तो प्रतिवर्ष नीचे जाने का ख्याल छोड़ना होगा। रास्ता बहुत परिश्रम से बनाया गया था, इसमें शक नहीं, किन्तु वह कितनी ही जगहों पर कठिन था। यहाँ पहाड़ अधिक वृक्षसंकुल थे। पहिले की स्मृति ने धोखा देकर समझा रखा था कि इस मोड़ के कनम् तक आदमी लगातार 'देवदार जूड़ी छाँह' में ही जा सकता है, किन्तु यह धारणा निराधार थी। कहीं-कहीं देवदार भी थे, मगर सभी जगह नहीं। चौरा के डाकबँगले से हमें कुछ लेना-देना न था। साईस के साथ हम आगे बढ़ते गए। बतलाया गया था, शोलिंड खड़ के पार रास्ता बहुत बुरी तरह से टूटा हुआ है। मैंने समझा था, शायद वहाँ मुझे और घोड़े दोनों को टाँग कर पार करना होगा। रास्ता टूटा जरूर था, किन्तु लोगों ने खेत से अस्थायी मार्ग बना दिया था। हम आसानी से दुकान और सराय के पास पहुँच गए। सराय के धुपहले और शायद खटमल-पिस्सुओं से भरे बरांडे को न पसन्द कर मैंने दुकान की छाँह पसन्द की।

खच्चर और दौलतराम न जाने कितने पीछे छूटे थे, इसलिए उनके आ जाने पर ही आगे चलना था। बनिया बीमार था। दुकान में काफ़ी आलू पड़े थे और गुड़ की भेलियों पर मिकखयाँ भिनभिना रही थीं। मेरे खाने, खरीदने की वहाँ कोई चीज न थी। पास के कटे खेत में अपनी रावटी डाले ग्यारह खम्पा पड़े थे। खम् तिब्बत में चीन की सीमा पर एक प्रदेश है। शायद इनके पूर्वजों में कुछ किसी समय खम् से खनाबदोशी करने इधर आए हों, किन्तु अब यह न भाषा ही में खम् के हैं, न वेशभूषा ही में। शायद इसीलिए इन्हें सिर्फ खम्पा (खम्वाला) न कह कर ग्यगर (भारत)-खम्पा कहते हैं। इन लोगों का कहीं घर नहीं है, किन्तु यह भिगमंगे नहीं हैं। इनका काम है छोटा-मोटा सौदा खरीदकर इधर से उधर बेचना । जाड़ों में ये मंडी, शिमला, हरद्वार, दिल्ली तक पहुँचते हैं और गर्मियों में सतल्ज और गंगा की घाटियों से पश्चिमी तिब्बत । यह तिब्बती प्रजा हैं या भारतीय, इसका ठीक से जवाब यह भी नहीं दे सकते। पास में खम्पा बच्चों को देखकर मैंने उनसे भोटिया भाषा में कुछ कहा, उनके कान खड़े हो गए और सयानों को मालूम हुआ। एक तरुण और उसकी माँ पास आई। मेरे जैसे वेशभूषा के आदमी को फर-फर ल्हासा की नागरिक भाषा में बात करते देख पहिले आश्चर्य हुआ। मैं बनिये के आदमी से पीने के लिए पानी माँग रहा था। तरुण ने कहा – मैं चाय लाता हूँ। उसे न जाने कैसे विश्वास हो गया कि मैं छुआछूत नहीं मानता हूँ। यद्यपि गर्मी में चलकर आने से मुझे ठंडा पानी अधिक पसंद था किन्तु तरुण के सत्कार को ठुकरा नहीं सकता था। तरुण बहुत ही संस्कृत मालूम हुआ, कुछ पढ़ा भी था, भारत की राजनैतिक प्रगति की कुछ मोटी-मोटी बातें भी जानता था। सारनाथ, बोधगया भी एक से अधिक बार हो आया था। माँ चाय बनाने चली गयी और मैं तरुण से बातचीत करने लगा। मेरी दृष्टि उसके स्वच्छ-स्वस्थ-प्रसन्न मुँह पर थी। कान और जीभ बात में लगे थे, लेकिन मन कभी-कभी अतीत की ओर चला जाता था। मेरे मन में कभी ख्याल उठा था - इन्हीं की भाँति निर्द्वन्द्व हो गदहा, खच्चर और तंबू लिए एक देश से दूसरे देश में घूमूँ। काश, मैं बीस बरस का हो जाता, फिर इसी तरुण से कहता - लो दोस्त ! अब मुझे भी अपने परिवार में शामिल कर लो, खाने के लिए ही नहीं, अपने साथ काम करने के लिए भी, अपने दुःख-सुख में शामिल होने के लिए भी। माँ में तो हकीकी साझीदार नहीं बन सकता, किन्तु पत्नी हमारी एक रहेगी और हम पश्चिमी तिब्बत से भारत तक ही नहीं विचरेंगे, बल्कि तिब्बत के महा-मैदान को पार करते सुदूरपूर्व खम् तक चलेंगे । रास्ते में दुर्गम पथ ही नहीं लाँघना पड़ेगा, बल्कि बन्दूकधारी अश्वारूढ़ डाकूओं से भी मुकाबला करना पड़ेगा, किन्तु मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। किन्तु क्या पचपन साल से बीस साल के होने की औषधि दुनिया में प्राप्त हुई है ?

अब खम्पा लोग ऊपर की ओर जा रहे थे। खानाबदोशी जीवन के बारे में पूछने पर तरुण ने कहा – जीवन तो कठिन है, किन्तु उसे छोड़ कर बसते नहीं बनता। बसने पर आज की तरह की खान-पान की सामग्री जमा करना हमारे लिए सम्भव नहीं होगा। पश्चिमी तिब्बत में पहुँचते हैं वहाँ यथेष्ट मांस, मक्खन सुलभ होता है। यहाँ भी आसपास के लोगों से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, न ऊधो का लेना न माधो का देना। उसकी बात में सच्चाई थी, इससे कौन इन्कार कर सकता था। चाइ-थाड़ (तिब्बत के निर्जन बयाबान) में चीनी और सिग्रेट कहाँ और यहाँ के गाँवों में रोज-रोज मक्खन-मांस कहाँ ? तरुण बुद्ध-धर्म का भक्त था, ब्राह्मणों के धर्म को सम्मान की दृष्टि से न देखता था और साथ ही न जाने कहाँ से कम्यूनिस्ट पार्टी का नाम भी जानता था। कांग्रेस की प्रशंसा करता था। कहता था, भोट में भी हाकिमों, जागीरदारों का जुल्म खतम होना चाहिए। हमारी बातचीत भोट भाषा में हो रही थी जिसे उसकी माँ भी ध्यान से सुन रही थी। कनोरा क्कानदार चारपाई पर पड़ा हमारा मुँह देख रहा था और शायद एक भद्रवेषी (शुभ्र कुर्ता-धोतीधारी) पुरुष को भोटिया की चाय पीते आश्चर्य भी कर रहा था। आश्चर्य मेरे ही लिए, क्योंकि यद्यपि चिनी तहसील के बाहर के ये कनोरे ब्राह्मणों के जाल में फँस चुके हैं, किन्तु लामा लोगों की मन्त्र-शक्ति और सिद्धाई से लाभ उठाने से बाज नहीं आते। यह वस्तुत: रामखु दैया वाले लोग हैं।

दौलतराम कितनी ही देर बाद सिरदर्द लिए आए। उन्हें धीरे-धीरे शाम तक नचार तक पहुँचने के लिए कहकर हम आगे चले। अब चढ़ाई थी। धूप सीधे बायें से पड़ रही थी जिससे आड़ करने के लिए वृक्षों की छाया नहीं थी, पहाड़ वनस्पतिविहीन न था। चढ़ाई नरम इसीलिए मालूम हो रही थी कि हम दूसरे की पीठ पर थे। चढ़ाई दो मील रही होगी या ज्यादा, उसे पूरा करने के बाद अब हम अवश्य देवदारुओं के सुन्दर वन में थे, सारे रास्ते का यह सुन्दरतम भाग था। सारा पर्वतगात्र तुंग सरल सदाहरित देवदारुओं से ढँका था। बीच-बीच में कुछ गाँव भी मिले। एक सड़क से नीचे पास ही था जिसमें मन्दिर था। अठारह-बीस खूँद का सुङ्रा गाँव यही है। इसी के पास किसी गुफा में वाणासुर की सुभार्याने सात बहिन-भाइयों को जन्म दिया था जिनमें एक यहीं का मेशु है। इसके दूसरे दो भाई भावा और चगाँव (ठोलङ्) के मेशू हैं और सबसे बड़ी वहिन चिनी के पास कोठी की देवी है जो सबसे होशियार निकली जिसने सभी भाई-बहिनों को चकमा देकर दाय-भाग का असली सार अपने हिस्से में कर लिया।

देवदारुओं के सघन वन में चलने में बड़ा आनन्द आ रहा था और घोड़े को मैं उसके मन से चलने दे रहा था। 23 मील की यात्रा पूरी करके साढ़े पाँच बजे हम नचार पहुँचे। नचार में पी॰डब्लू॰डी॰ का बँगला नहीं, बल्कि जंगल विभाग का बँगला है। बँगला सड़क से कुछ ऊपर है। घूमकर वहाँ पहुँचे। सहायक कंजर्वेटर ढिलन महाशय के पास ऊपर से चिट्ठी आ गई थी, किन्तु उन्हें यह नहीं पता था कि मैं किस दिन पहुँच रहा हूँ। बँगला बड़ा और दो-तल्ला था, किन्तु जान पड़ता था एक से अधिक परिवार वहाँ रहता था, इसलिए भरा-भरा सा मालूम होता था। ढिलन साहब बड़े प्रेम से मिले। उनकी धर्मपत्नी ने भी नमस्ते करने में संकोच नहीं किया। अभी मुझे यह नहीं पता था कि ढिलन अपने कॉलेज (देहरादून) के सबसे मेधावी विद्यार्थी थे। बातचीत में यह तो मालूम हुआ कि वह अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश भी जा चुके हैं। पंजाबी जानकर मुझे कुछ खेद हुआ कि शायद उनका परिवार भी पंजाब के उन अभागे परिवारों में है, किन्तु ज्ञात हुआ, वह जलंधर के रहने वाले हैं। गर्मियों में उनका दफ्तर

नचार में रहता और जाड़ों में नीचे फल्लोर में। चाय पीने के बाद वह हमें बाग में ले गए। अभी फलों के पकने में काफ़ी देर थी, किन्तु गिलास (चेरी) ने हमें खाली लौटने नहीं दिया। गोभी और दूसरी तरकारियाँ लगी हुई थीं। कुछ महीने बाद यह फल-तरकारी-सम्पन्न निवास होगा, किन्तु अभी तो चीजों की कमी की शिकायत थी।

शाम हो रही थी और अभी दौलतराम का पता नहीं। मैंने दूसरा आदमी दौड़ाया चिराग वाला जाने लगा, किन्तु दौलतराम का अब भी पता नहीं। क्या सिरदर्द ने बुखार का रास्ता तो नहीं ले लिया? क्या वह पौंडा के डाकबँगले में तो नहीं रह गया? घोड़े वाले को लौटाते समय मैंने दौलतराम को जल्दी आने की ताकीद तो कर दी थी। मेरे पास कपड़ा मामूली था जो 7000 फुट की सर्द रात के लिए काफ़ी नहीं था। ढिलन साहेब ने चादर दे दी, किन्तु मेरी चिन्ता बढ़ रही थी। तीसरे आदमी को रास्ता देखने के लिए भेजने की बात हो रही थी, उसी समय किसी ने आकर कहा, खच्चर काफ़ी दिन से ऊपर उतरने की जगह पहुँच चुके हैं, खच्चर वाला रोटी बना रहा है। मैं नाहक डर और अपने को कोस रहा था – दौलतराम जरूर 105 डिग्री के बुखार में बेहोश होकर कहीं पड़ रहा और खच्चर मनमाने किसी ओर चले गए।

बँगला भरा हुआ था, इसलिए मुझे संकोच हो रहा था, मेरे आने में अवश्य दम्पति को कष्ट होगा। भोजनोपरान्त गृहपति ने संकोच करते हुए कहा, एक दूसरा क्वार्टर है, वहाँ रहने में तो कष्ट होगा। लालटेन लिए वह उस मकान में ले गए। यद्यपि वह डाकबँगले जैसा तो नहीं था, किन्तु काफ़ी स्वच्छ था। नेवार का पलंग और मेज-कुर्सी भी थी। और क्या चाहिए ? अभी तक ढिलन साहेब से ही बात होती रही, किन्तु यहाँ बाबू अमीचन्द (पंगी बाब्) से भेंट हुई। उन्हें भी नेगी ठाकुरसेन का पत्र मिल चुका था। ढिलन साहेब ने तो कल के लिए घोड़ा मिलने में भारी सन्देह प्रकट किया, लेकिन पंगी बाबू ने आशा दिलायी। मुझे कल के तीन मील चढ़ाई के रास्ते की चिन्ता थी, बाकी सात-आठ मील की कोई पर्वा नहीं थी। अमीचन्द ने कहा, मैं स्वयं भी आपके साथ वाङ्तू के बँगले तक चल्ँगा, सौभाग्य से सड़क के इंस्पेक्टर बाबू लक्ष्मीनन्द आज वहीं ठहरे हैं, उनका घोड़ा मिल जाएगा। उड़नी की चढ़ाई की बात ने कुछ परेशानी पैदा कर दी थी, किन्तु पंगी बाबू ने उसे हटा दिया और मैं रात को इत्मीनान से सोया। देर तक दिमाग तरह-तरह के ख्यालों में डूबा रहा। ढिलन साहेब ने बतलाया था - इधर भालू हैं, वह आदमी को कम किन्तु गाय, भेड़, बकरी को मारकर खा जाते हैं। ज़्यादातर काले भालू हैं, किन्तु ऊपरी कंडों में भूरे भालू भी सुने जाते हैं। मेरी धारणा थी कि सिर्फ ध्रुवकक्षीय सफेद भालू ही मछली खाते हैं जिसे हमारे बंगाली भाई भी जलतरोई कहते हैं, नहीं तो बाकी भालू पक्के वैष्णव होते हैं। यह घोर जंगल है। यहाँ कहीं आसपास में यह परमशान्त जन्तु रात को घूमता-फिरता तो नहीं; और यदि कहीं इस बँगलिया की झाँकी करने आ जाए। नचार जंगल के एक बड़े विभाग का केन्द्र है, इसलिए यहाँ इस तरह के दर्जनों क्वार्टर बने हैं, फिर जाम्बवान हमारे ही कमरे को खास तौर से क्यों पसन्द करेंगे ? अन्त में नींद आ गई, जां बवान स्वप्न में भी नहीं आए।

19 मई को सवेरे ही उठे। शौच, मुँह धो-धाकर ढिलन साहब के यहाँ चाय पी। स्नान की बात मत पूछिए। सप्ताह में एक बार स्नान मैं यहाँ के लिए पर्याप्त समझता हूँ, नहीं तो हिमालय की पवित्र वायु का माहात्म्य ही क्या रहेगा? बाबू अमीचन्द के साथ नीचे उतरने लगे। नचार से तीन मील वाङ्तू के पुल तक उतराई ही उतराई। और उतराई भी कठिन है जो इस वक्त तक बुरी नहीं थी, किन्तु लौटते समय चढ़ाई बनकर दाँत खट्टे करने

लगेगी। थोड़ा ही उतरने पर अब पहाड़ भी नग्नप्राय, नदी पार तो और भी। डाकबँगला सतलुज के पुल से कुछ ऊपर है और उससे भी पहिले ही खड्ड (नदी) मिली जिसका पानी नचार से चिनी तक रोपवे (तारगाड़ी) होने के समय बिजली बनाने के लिए उपयोगी साबित होगा, यद्यपि हिमपात-क्षेत्र की सारी खड्डें जाड़ों में हिमानी टूटने का मार्ग बन जाती हैं जिससे बचने के लिए पानी को बगल में ले जाकर वहाँ सुरक्षित जगह में पावरहौस (शक्तिभवन) बनाना होगा।

वाङ्तू बँगले पर कोई घण्टे भर में पहुँच गए। अब आठ मील और रहते थे। सड़क इंस्पेक्टर बाबू लक्ष्मी मौजूद और घोड़े का मिलना भी निश्चित, इसलिए विश्राम करने के लिए काफ़ी समय था। इंस्पेक्टर साहब ने खाने के लिए कहा, किन्तु अभी कल का ही भोजन पच नहीं पाया था। ठंडा पानी पीना चाहता था और यहाँ के चश्में के शीतल-मधुर जल को अमृत कहना अत्युक्ति न होगी। बँगले के आस-पास ऊँची-नीची जमीन है। उसमें से कुछ को फलों की बिगया और तरकारी की क्यारियों में परिणत किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए शोक और उत्साह किसे ? दो-तीन चूली (खूबानी) के दरख़्त थे जो अनाथ से मालूम होते थे।

चार घण्टे के विश्राम के बाद चलने का निश्चय हुआ। बाबू लक्ष्मीनन्द साथ चले और बाबू अमीचन्द लौट गए। थोड़ी उतराई के बाद सतलुज की धार पर वाङ्तू का लोहे का पुल आया। अब तो रामपुर से तिब्बत की सीमा तक सतलुज पर कई लोहे के पुल बन चुके हैं, िकन्तु अभी पिछली सदी के मध्य में भी उनका अभाव था। उस समय घास के रस्से के झूले हुआ करते थे, चार रस्सों के जोड़े-जोड़े ऊपर-नीचे, उनके दोनों सिरों को रस्सों से नीचे के रस्सों से बाँधा गया होता और फिर नीचे के दोनों रस्सों के बीच पतली पटिरयों को रस्सों से फँसा रक्खा जाता था। आदमी के चलने पर यह रस्से हिलते थे। नीचे पैरों तले नदी का खौलता पानी चमकता था। खैर, आदमी तो वानरों की सन्तान हैं, बेचारी भेड़-बकरियों के लिए उन पर चलना बहुत कठिन था। वाङ्तू का पुल खूब दृढ़ लोहे का पुल है। यह न हिलता, न नीचे पाताल दिखलायी पड़ता।

पुल समुद्र-तल से 5200 फुट पर है। आस-पास की अपेक्षा इसे गरम स्थान कह सकते हैं। पुल पार हो अब हमें सतलुज के दाहिने तट से चलना था। कुछ ही दूर आगे चलने पर बार्यी ओर से भाबा की खड़ड गरजती हुई सतलुज में समा रही थी। इस खड़ड में दो-तीन गाँव हैं और इसके किनारे-किनारे आगे जोत टपकर स्पिती में पहुँचाया जा सकता है। लोग आते-जाते भी रहते हैं, किन्तु स्पिती के लिए सड़क यहाँ से नहीं, भारत के अन्तिम गाँव नम्ग्या के पास से निकाली जा सकती है जहाँ स्पिती नदी स्वयं आकर मिलती है। अभी हमें स्पिती से काम नहीं था, तो भी स्पिती को भुलाया नहीं जा सकता। सौ बरस पहिले स्पिती लदाख का भाग था – स्पिती वाले भोट भाषा बोलते हैं। लदाख को काश्मीर ने ले लिया, स्पिती किसी मालिक की खोज में थी। अंग्रेजों की कृपादृष्टि पड़ी, किन्तु इलाका छोटा, सर्दी कठोर, आमदनी नहीं के बराबर, उसका शासन कैसे किया जाए ? 1864 के आस-पास एक अंग्रेज अफसर भेजा गया इस धारणा के साथ, कि शासनयन्त्र सबसे सस्ता होना चाहिए। अफसर ने लदाख के राजसेवकों में से एक को ब्रिटेन की ओर से शासक नियुक्त करने की सिफारिश की। तब से वही नोनोवंश स्पिती का बेताज का बादशाह है। कभी-कभी कुल्लू का असिस्टेंट किमश्लर सैर-शिकार के लिए पहुँच जाता, नहीं तो स्पिती वाले अपने भाग्य पर छोड़ दिए गए थे। आज वह भारत के नक्शे के भीतर है, किन्तु स्पिती

वालों के लिए कोई परिवर्तन नहीं; और, जब तक वह पंजाब के हाथ में है, तब तक कुछ होगा भी नहीं। वस्तुतः काँगड़े के लाहुल-स्पिती वाले तिब्बती-भाषा-भाषी इलाकों की भलाई इसी में है कि उन्हें हिमाचल प्रदेश में मिला दिया जाए और कनोर के हङ् रङ् जैसे भोट-भाषा-भाषी इलाके की शिक्षा और संस्कृत सम्बन्धी योजना में सिम्मिलित होने का अवसर दिया जावे।

भाबा-खड्ड को पुल से पार हो हम आगे बढ़े। आगे सतलुज एक विशाल पर्वत को तिरछे काटकर निकलती है, यद्यपि लाखों वर्ष संघर्ष करके पर्वत ने सतलुज से पराजय स्वीकार की, किन्तु समुद्र से आने वाले बादलों के रास्ते को रोकने के लिए वह अब भी काफ़ी सबल है। यहाँ से नीचे तर इलाका है और ऊपर सूखा। जहाँ नीचे वर्षा डटकर होती है, वहाँ ऊपर 25 इंच और 15 इंच तक रह जाती है। बादलों का दल बड़े वेग से चलता है, किन्तु पर्वत-गात्र से टकराकर बहुतों को निष्फल-मनोरथ होना पड़ता है। पतले मार्ग से जो कुछ भीतर घुस पाते हैं, उनमें भी कितने ही आगे सतलुज की भूल-भुलैया छोड़ उसकी परिचारिका बस्पा का रास्ता लेते हैं। इस प्रकार वर्षा के सम्बन्ध में बस्पा वाले चिनी से अधिक सौभाग्यशाली हैं, किन्तु साथ ही सूखे जलवायुके फल जितने अच्छे चिनी में होते हैं, उतने बस्पा में नहीं। अंगूर तो बस्पा में वर्षा के मारे फट जाता है, इसलिए लोग उसका बाग नहीं लगाते।

चार मील के करीब रास्ता सतलुज के पास-पास से चला और बहुत कुछ समतल-सा समझिए। नदी पार छोलटू का जंगलीय डाकबँगला दिखाई पड़ा। ढिलन साहेब ने सिफारिश की थी, रात वहाँ बिताने की। वह गरम स्थान में है, इसलिए साग, तरकारियों और फल भी चिनी से और नचार से भी काफ़ी पहिले तैयार हो जाते हैं। बँगले के घेरे में तरकारियों की क्यारियाँ भी दिखाई देती थीं, किन्तु कौन सड़क छोड़ पुल पार हो वहाँ जाए। अन्त में हम टापरी (कुटिया) पर पहुँचे। यहाँ डाक ढोने वाले ठहरा करते हैं, दूसरे भी आवश्यकता पड़ने पर ठहर सकते हैं। तीन-चार कोठरियाँ हैं। वाड़्तू के इस पार वर्षा की कमी से जंगल की उतनी इफरात नहीं है। देवदारु भी यहाँ के उतने ऊँचे नहीं होते और बहुत रक्षा की अपेक्षा रखते हैं। तो भी काष्ठ दुर्लभ नहीं है, इसलिए टापरी बनाने में काठ की साखर्ची से काम लिया गया है। टापरी पहुँचने से पहिले ही इंस्पेक्टर सड़क में लगे अपने काम को देखने लगे और साईस के साथ मैं घोड़ी पर आगे चला। घोड़ी पतली-दुबली-सी मालूम हुई। डर लगने लगा, कहीं चढ़ाई में धोखा न दे। टापरी में साईस ने चिलम भरी। चौकीदार कनेत (राजपूत) था, इसलिए कोली उससे दूर से आग लेकर अलग ही चिलम पीने लगा। मैंने 26 महीने बाद सिगरेट का व्रत लंदन में तोड़ा था और फिर 6 महीने के बाद मध्य फरवरी से उसके पास नहीं फटकता था। सिगरेट अतिथि-सेवा का बहुत उपयोगी उपकरण है, किन्तु जो स्वयं नहीं पीता, वह सेवा करने के लिए ढोये उसे नहीं फिर सकता। यदि पीता होता, तो गन्दी टापरी में साईस के चिलम पीने के लिए रुकना नहीं पड़ता। मुझे कुछ प्यास लग आई थी, किन्तु मटमैले पानी का रंग देखते वह भाग गई।

अब यहाँ से प्रायः 3 मील चढ़ाई ही चढ़ाई थी। उड़नी में 7500 फुट पर पहुँचना था। सड़क घूम-घुमौआ थी जिसके किनारे खेत भी आने लगे। यह चगाँव के खेत थे जिसके प्रग्रामङ्, राजग्राम और ठोलङ् कई नाम हैं। यहाँ कहीं चाँदी की खान बतलायी जाती है, किन्तु न जाने किस युग से देवता ने बंद कर रखा है। कुछ सफेक्सा

पत्थर मेरे पास पीछे लाया गया, किन्तु उसमें भारीपन नहीं; यदि चाँदी होगी भी तो बहुत कम। प्रग्रामङ् खुद किन्नर देश के सात खुंदों (इलाकों) में एक है, राजग्राम इसे इसीलिए कहा गया कि पिहले यहाँ कोई राजा या ठाकुर रहता था। चगाँव चार गाँव का संक्षेप बतलाया जाता है। खेत वैसे बहुत दूर तक फैले हुए हैं, किन्तु पानी उनके लिए पर्याप्त नहीं है। पानी सारे ऊपरी किन्नर देश की समस्या है जिसे हल करने के लिए बड़ी योजना और लाखों रुपयों की आवश्यकता है जो दसगुना, बीसगुना होकर लौट आएगा, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु ऐसी बहुधन-साध्य योजनाओं को हिमालय प्रदेश कैसे पूरा कर सकेगा, जबिक उसके शरीर के बड़े भाग को काटकर उसे 10 लाख की आबादी का एक जिला रख दिया गया है।

घोड़ी दुबली-पतली जरूर थी, किन्तु उसके बारे में मेरी शंका निर्मूल साबित हुई। वह धीर-धीरे, किन्तु दृढ़तापूर्वक ऊपर चढ़ती गई और शाम से बहुत पहिले 125वें मील पर उड़नी के डाकबँगले पर पहुँच गई। दौलतराम वाङ्तू में रुके नहीं थे, इसलिए वह पहिले ही वहाँ पहुँच चुके थे। पी॰डब्लू॰डी॰ का डाकबँगला, दो अच्छे कमरे, सब तरह का आराम। पास तो जंगलात था, किन्तु ठहरे बिना चारा न था। सवेरे की चाय और वाङ्तू की एक गिलास लस्सी के बाद अब यहाँ भूख लग आए, तो आश्चर्य क्या ? किन्तु वहाँ तैयार भोजन कहाँ था। मीठे बिस्कुट से परहेज और फीके से प्रेम नहीं। दो चम्मच लूकस फाँकने से क्या काम चलता ? मेवों के देश में आ गए थे। अंगूर की लता थी। यद्यपि फलों के पकने में अभी देर थी, किन्तु सोचा कोई सूखा फल मिल जाएगा। ढूँढ़ने पर मेट ने न्योजा (चिलगोजा) लाकर दिया। न्योजा का वृक्ष देवदार जाति का है, किन्तु उसकी छाल सूखकर लिपटी रहने की जगह साँप की तरह बराबर केंचुल छोड़ती रहती है जिससे उसका तना और शाखाएँ सफेद या हरी-सी बनी रहती हैं। इन पर ही मोरमुक्ट या बड़े कमलगट्टे-सा नोकदार पाँच-छह अंगुल बड़ा फल लगता है। पक जाने पर फलों में से कमलगट्टे की तरह भीतर से पतले और लम्बे-लम्बे छिलकेदार दाने निकलते हैं। इन्हें भून लिया जाता है और छिलका निकालकर खाया जाता है। न्योजा में बादाम की तरह तेल भरा रहता है, खाने में भी अच्छा लगता है। किन्नर के गरीबों का यह एक बड़ा आधार है, यह कह तो सकते हैं, किन्तु अब महँगा होने से लोग इसे बेच डालने का अधिक ध्यान रखते हैं। न्योजा के वृक्ष हिमालय में सिर्फ इसी जगह होते हैं, पेशावर के उत्तर के पहाड़ों में न्योजा की दूसरी उद्गम-भूमि है। मान्य अतिथि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते लोग ऊर्णासूत्र में गुँथी न्योजा की माला गले में डालते हैं। न्योजा के गुण तो बहुत हैं, किन्तु उसके फलों को चुनने में आज तक न जाने कितने हजार आदिमयों ने जान गँवायी होगी। वह बाग के वृक्ष नहीं, दूरारोह पर्वतों के स्वयंभू पादप हैं और आदमी चाहता है, किसी वृक्ष का फल छूटने न पाए। मेट ने न्योजा दिया। छीलकर खाया, चना छीलकर खाने जैसा समझिए, किन्तु वहाँ दूसरा काम क्या था ? बँगले के चौकीदार का कहीं पता न था, आख़िर वह गाँव का रहने वाला था, उसके और भी घर के काम थे। मेट ने चाय ही नहीं, रोटी भी बनाकर खिलायी। यहाँ खच्चरों पर छह रुपये घास के लगे; और आटा सवा रुपया सेर।

एक मिडिल तक पढ़े तरुण ने स्कूल और डाकखाना के अभाव की शिकायत की। दस मील की चढ़ाई-उतराई करके लड़के नदी पार किल्बा में पढ़ने नहीं जा सकते, चिनी और नचार और भी दूर हैं। मैंने लड़के को इसके लिए आवेदन-पत्र लिखवा दिया। हिमाचल प्रदेश में स्कूल और डाक को बहुत फैलाने की जरूरत है।

बूढ़ी बामणी

– सत्यनारायण

सुबह से आँधी चल रही थी। माँ ने डरते-डरते रोटियाँ बनायीं। "आग माता तू ही लाज राँखज्ये" चूल्हे की तरफ हाथ जोड़कर उसके चौफेर पानी की एक लकीर खींची और उसे कूँडे से ढँक दिया। खेत पर जब रोटियाँ लेकर गया तब पिता भी झाड़ काटते रुक गए और आँधी से तंग आकर कहा, " यह माता आज जाने किसका भख लेगी"।

बामणों की ढाणी। रेत के उठते बघूलों के बीच टीले पर खड़ी उस ढाणी में सिर्फ दो झोंपड़ियाँ, एक में गाय और दूसरी में बूढ़ी बामणी। भर दोपहर उस तरफ जाने की हिम्मत कोई नहीं कर पाता था। जब कभी मैं अपने दोस्तों के साथ उधर चला जाता तो माँ डाँटकर और डरा देती, "वह राँड डाकण पकड़ ले जाएगी।" तब मैं न डाकण का अर्थ जानता था न उस अकेली ढाणी का रहस्य। बूढ़े बडेरों के मुँह से कभी-कभार यही सुनाई देता कि आधी रात वह डोकरी जरख की पीठ पर दूसरी तरफ मुँह करके सवारी करती है जिसकी एड़ियाँ उलटी तरफ होती हैं और स्तन कन्धों से पीठ की तरफ लटके हुए। मैं सुनकर डर जाता। फिर भी एक उत्सुकता बराबर बनी रहती। एक-दो बार वह टीलों पर मिल गई तो बड़े प्यार से बातें कीं। माँ की तरह। उसकी वह छवि आज तक मेरे मन में बैठी हुई है। बाद में धीरे-धीरे मैं उससे हिल-मिल गया था। चोरी-छुपके उसकी तरफ निकल जाता तो वह गाय की छाछ पिलाती। एक काली हाँडी में से निकालकर गुड़धाणी देती, जिसे जेबों में ठूँसे मैं चबाता रहता।

पर उस दिन ऐसी काली-पीली आँधी चली कि दरख़्तों की डालियाँ टूट-टूट गिरीं। देखते-देखते टीलों ने अपनी ठौर बदल ली। घरों के छप्पर उड़कर बिखर गए। खेजड़े पर लूँग तोड़ता सांवद्या धरती पर गिरा तो कई दिनों तक बुखार में तपता यही कहता रहा कि वह जिस डाल पर बैठा था, उसको गुस्से में उस डाकण ने ही तोड़ा क्योंकि उसने उसको एक बार गाली दी थी।

उस दिन सचमुच धरती में कॅपकॅपी चढ़ी हुई थी। उसके साथ-साथ आदिमयों के भीतर भी भय का भूचाल आया हुआ था। जो जहाँ था वहीं ठहरकर मन ही मन देवी-देवताओं के रुपया सवा-रुपया चढ़ा रहा था तो कोई प्रसाद बोल रहा था और डाकण को कोस रहा था। गर्द से ढँका-ढँका सूरज जब ढलने जा रहा था तब आँधी थमी और लोग-बाग डरे-सहमे अपने-अपने ठीहे की तरफ लौटे। सब कुछ अस्त-व्यस्त था। ढोर आँय के बाँय होकर अरड़ा रहे थे। भेड़-बकरियाँ अपने रेवड़ से परे आँधी के संग इधर-उधर रुल गईं और लोग उन्हें ढूँढ़ रहे थे। उस दिन घरों में चूल्हे नहीं जले, क्योंकि हर कोई आँधी के कारण अस्त-व्यस्त था तो भयभीत भी। गर्द से भरी गीली आँखों को मसलते हुए भूरा बाबा ने बताया कुछ दिन पहले बूढ़ीबामणी मिली तो उसने रोष से आकाश की तरफ देखते हुए कहा था, जल्दी ही प्रलय होने वाली है। एक ने कहा कि वह मुझे भी सपने में दिखाई दी। सुनकर सबने अपनी आँखों पर हाथ धर लिए कि आगे जाने क्या अशुभ घटने वाला है और रात-भर सब एक-दूसरे की माची को टटोलते हुए जागते रहे थे।

बूढ़ी बामणी को लेकर मेरे मन में हमेशा एक उत्सुकता बनी रही कि वह कौन थी, कहाँ से आयी थी और एक अकेली जंगल में क्यों रह रही थी। आज भी उसकी आँखों की कोमलता याद है जिसके कारण वह मुझे बहुत अच्छी लगती। प्यार से मेरे बालों में फेरी अँगु लियों की सरसराहट कई बार नींद उचटा जाती है और मैं बेचैन हो उठता हूँ। उसी की तरह एक अकेले टीले पर झोंपड़ी बाँधकर रहने के लिए।

एक बार मैंने पूछा था, "माई तुम इस तरह अकेली क्यों रहती हो। क्या तुम्हें डर नहीं लगता?" आँखों में डबोले भरते हुए उसने कहा था, "इस खोड़ली दुनिया से तो यह रामा ही भला।"

एक दोपहर जब मैं उसकी झोंपड़ी में गया तो देखा उसका चेहरा मुरझाया हुआ है। बिस्तर पर पाँव पसारे छत की तरफ देखते हुए गीत गा रही थी और आँसुओं के धोरे गालों की झुर्रियों में अटक-अटककर बह रहे थे। और दिनों की तरह मुझे देखते ही पुकारा भी नहीं और न मेरी बात का कोई जवाब दिया।

"माई तुम क्यों रो रही थी ?" उसके पाँवों की तरफ जमीन पर बैठते हुए मैंने कहा और मेरी आँखों में भी डबोले भर आए थे।

"अरे कुछ भी तो नहीं," मरी-मरी आवाज़ में उसने जवाब दिया और उठकर बैठ गई, "कई दिनों में आए इस बार।"

"तुम उसी तरह गीत गाती रहो, मुझे अच्छा लगता है।" फिर गाते हुए अपनी आँखें सिकोड़कर मुझ पर गड़ा दीं। वह इकसार देख रही थी। उसकी आँखों में एक ऐसा अमोघ सम्मोहन था जिससे बिंधा मैं जड़ हो गया। थोड़ी देर बाद जब गीत बंद कर दिया तो सिकुड़ी भौहें काँपने लगीं और होठ दाँतों से भिंच गए।

"मुझे यहाँ भी चैन से नहीं रहने देते। अब मैं इस झोंपड़ी से बाहर नहीं निकलूँगी। देखना एक दिन मरूँगी तो परलय होगी। तुम आओगे न? मेरे मरने पर।"

उसके डायन होने के बारे में फैली अफवाहें तब मेरी अल्प बुद्धि की सीमा से बाहर थीं। किन्तु उसके सम्पर्क में रहने के बाद मैं इतना जरूर जान गया कि उसके भीतर कहीं आत्मानुभूत एक दृढ़ विश्वास और कुछ ऐसा ज्ञान जरूर छिपा है जो दूसरे लोगों के सत्य पर नहीं अँटता। आज इतने सालों बाद भी यह देख आश्चर्य होता है कि अनेक हास्यास्पद अन्धविश्वासों से लिपटे लोग उनसे मुक्त होने के बजाय पीढ़ी दर पीढ़ी आज भी उन्हें सँभाले हुए हैं।

उसकी झोंपड़ी की तरफ जाने का भेद माँ से ज़्यादा दिन छुपा नहीं रह सका। उसने खूब हाय-तौबा मचायी। देवी-देवताओं के नाम लेकर कई चढ़ावे बोले। बाद में बहुत बाद में मेरी आवारगी को उसने उसी की छाया के रूप में देखा। जब कभी मैं खेतों की तरफ जाने की कहकर घर से निकलता तो वह पूरा ध्यान रखती कि कहीं मैं बूढ़ी बामणी की झोंपड़ी की तरफ न निकल जाऊँ।

उस चाँदनी रात मुझे लगा माई बुला रही है। मिले कई दिन हो गए थे और मैं देखना चाहता था कि वह सचमुच कहीं जरख की सवारी तो नहीं करती। अब मेरा भय खुल गया था। वह रात चाँदनी के रहस्यमय रंगों में डूबी हुई थी। परियों की कहानी-सी मोहक और प्यारी। चाँदनी में नहाते कूँचे, कैर, खींफ, आकड़े की झाड़ियाँ और इक्के-दुक्के खेजड़े के बूढ़े दरख़्त किसी मौन साधक-से खड़े थे।

जब मैं उस टीले पर आया, चौतरफ सुनसान थी। गाय बाहर बँधी ओगाल रही थी। मेरा दिल भय से काँपने लगा, कहीं माई जरख की सवारी पर न निकल गई हो। दरवाजे की कुंडी पर हाथ रखे कुछ क्षण ठिठका रहा। खटखटाने से पहले मैंने साँस रोककर आँखें मूँद लीं। मुझे अब भी अच्छी तरह याद है चाँदनी की एक फाँक दरवाजा खोलते ही उसके चेहरे पर ठिठकी तो मैं सहम गया। पीले जर्जर पत्ते-सा उसका शरीर जैसे अभी कड़-कड़ कर टूट जाएगा।

"क्या हो गया था तुम्हें? इतने दिन क्यों नहीं आए ?" बूढ़ी माई ने मेरे कुछ भी कहने से पहले पूछ लिया। जैसे वह मेरी ही बाट देख रही थी।

मैं कुछ नहीं बोला। चारपाई पर लेटते हुए उसी ने कहा, "थोड़े दिन पहले भूरा मिला तो मैंने कह दिया, परलय मचा दूँगी परलय। मुझे बहुत तंग कर लिया तुम लोगों ने।" आँखें मूँद वह देर तक चुप लेटी रही।

"अब मैं जाऊँगी सत्तू । तुम आओगे न ! इसी झोंपड़ी में मुझे आग लगा देना और गाय को खोलकर छोड़ देना, रामे में चरती रहेगी।"

"क्या कह रही हो माई।" मैं रोने-रोने को हो आया। "हाँ बेटे, मुझे उन्होंने इतना तंग किया कि मैं उन्हें शाप दे बैठी और अब डर के मारे वे कुछ भी कर सकते हैं। कहीं कुछ सचमुच तो सारा दोष मेरे सिर मढ़ा जाएगा।" लम्बी साँस लेकर आगे कहा, "एक बार गाँव में बच्चों को माता (चेचक) निकल आई तो सबने मेरा ही नाम लिया। क्योंकि हरलाल की बहू मुझसे लड़ी, उसके चार-पाँच दिन बाद ही उसका बेटा बीमार हो गया। भगवान् जानता है उससे मेरा कोई मतलब नहीं था पर मुझे मारा-पीटा। मेरी झोंपड़ी तोड़ दी।"

"लेकिन माई ... " बोल मेरे मुँह से निकलते-निकलते रह गए। "हाँ-हाँ कहो बेटा।" और काँपते हाथ मेरे सिर पर रख दिए।

"यह जरख ... यह डायन ... " पूछते हुए मैं डर गया था। इस बार एक क्षीण-सी हँसी, "इसी वहम ने तो मेरी लाज रखी। नहीं तो मुझे खा जाते।" थोड़ी देर अबोला पसरा रहा फिर उसने लम्बी साँस लेकर कहा, "हाँ बेटा, ऐसा कुछ नहीं है। मेरा ब्याह, छोटी-सी थी तब कर दिया था। बड़ी हुई तो एक लड़के को चाहने लगी। दोनों एक-दूसरे को खूब प्रेम करते थे। पर मुझे जबरदस्ती जिसके साथ ब्याह हुआ था, लाकर बैठा दिया। खूब रोयी-चिल्लायी। पीछे से वह लड़का घर-बार छोड़कर जाने कहाँ भाग गया जो आज तक नहीं लौटा। एक साल बाद जिसके साथ ब्याह हुआ वह भी चल बसा। उसके घरवालों ने मुझे दोषी समझा और पत्थरों से मार-मारकर घर से

भगा दिया। पीहरवाले पहले ही दुतकार चुके थे। जवान थी इसलिए लोग तंग करते। कहीं भी कुछ अशुभ घटता तो डायन कहकर मेरा ही मुँह काला करते।" कहते हुए साँस ऊपर-नीचे होने लगी। थोड़ी देर रुककर, "मैं जानती हूँ तुम्हारे दिल में मेरे लिए कोई घृणा नहीं होगी। वैसे भी अब मेरा समय आ गया।" वह फिर रुक गई।

"देर हो गई अब तुम घर जाओ बेटे। पर एक पल ठहरो – जानते हो मैं किसलिए दुखी हूँ ?" उसने धीरे से कहा पर उसकी साँस उखड़ गई, उसे बटोरते हुए बोली, "यह दुनिया बहुत खोड़ली है। मेरी तरह तुम भी सुख नहीं पाओगे। क्योंकि बहुत भावुक हो... पर एक बात याद रखना ... जिसे भी प्यार करो पूरा करना ... "

उस दिन वह मुझे छोड़ने दूर तक आयी। ऊपर आकाश में चाँद को बादलों ने घेर लिया था। लेकिन वह सब देख रहा था। वह बीच रास्ते धरती पर बैठ गई मुझे देखती हुई और मैं चला आया। उस दिन पहली बार मेरा भय खुला और उस दिन मैं खूब चैन की नींद सोया। सुबह जब आँधी-अरड़ा आया तब माँ ने झकझोरकर जगाया। "तेरा बाप खेतों में भूखा मर रहा है और तू सो रहा है।" मैं हड़बड़ाकर उठा और रोटी लेकर खेतों की तरफ भागा।

शाम को सारा गाँव डरा हुआ बैठा था, "राँड जाने अभी और क्या करतब करेगी। लगता है सभी का भख लेगी।" एक डर को मन में डाटे सब कब सो गए या अँधेरे में जाग रहे थे और भय के मारे चुप थे।

जब मैं उठा तब हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। रह-रहकर बादल गरज रहे थे। ज्यों-ज्यों झोंपड़ी नजदीक आ रही थी मेरा दिल धड़क रहा था। अब मैं भाग रहा था। बड़े टीले को पारकर झोंपड़ी वाले टीले पर आया तो देखा दोनों झोंपड़ियाँ गिरी पड़ी हैं। बाहर बँधी गाय रँभा रही थी। गाय को खूँटे से खोलकर वहाँ से दौड़ाया। माई वाली झोंपड़ी के एक कोने से झुककर अन्दर गया तो कुछ नहीं दिखाई दिया। दियासलाई जलाकर देखा, माई चारपाई पर चित्त लेटी थी। आँखें खुली हुईं। मैंने कई आवाजें लगायीं, खूब झिंझोड़ा पर माई वैसे ही लेटी रही। "हे भगवान्! मैं यह क्या देख रहा हूँ?" होठों में मैं बड़बड़ाया। पहली बार मैंने प्रेम जाना और पहली बार मौत देख रहा था। मेरा दिल भारी हो उठा। गाय वाली झोंपड़ी के फूस खोंसकर माई वाली झोंपड़ी पर डाले। सारी लकड़ियाँ भी। फिर माई के पाँवों को छूकर हाथ जोड़े और झोंपड़ी को दियासलाई जलाकर दिखा दी। जब मैं वहाँ से भागा तो उजाले में थूणी पर छोटी-सी पोटली दिखाई दी। खोलकर देखा गुड़-चने थे। एक ऐसी मिठास जिसे अब मुझे जीवन-भर चबाना था। एक कड़वी सच्चाई के साथ।

